ओ३म्

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ॥

हम कल्याण मार्ग के पथिक बनें।

संवर्द्धिनी

सत्यं वद | विशेषाङ्क - 17 | धर्मं चर

सम्पादक :-

आचार्य श्याम

दूरभाष - 09811064932, 09555534381

सह-सम्पादक :-

डा0 कर्णदेव शास्त्री

दूरभाष - 09810322989

संरक्षक :-

सतीश मेहता, रवि कोहली

कृष्णा झॉब, नीलम सूद, सरला सुखीजा

कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

आई-30, नारायण विहार, नई दिल्ली-28

दूरभाष - 09350733444, 09555534381

प्रधान कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, नई दिल्ली-59

E-mail - samvardhini@yahoo.co.in
dharm.samvardhini@gmail.com

Website - www.dharmsamvardhini.com

कहाँ क्या पढ़ें ? .....

1.	विश्व-रोमाञ्च	पृष्ठ - 2
2.	सम्पादकीय	पृष्ठ - 3
3.	वेदामृतम्	पृष्ठ - 5
4.	वैदिक यज्ञ : स्वरूप एवं उद्देश्य	पृष्ठ - 25
5.	नास्तिकता का कारण	पृष्ठ - 28
6.	कानाफूंसी	पृष्ठ - 29
7.	अनावृष्टि और यज्ञ	पृष्ठ - 30
8.	स्वर्णिम-युग निर्माण	पृष्ठ - 31
9.	संन्यास केवल ब्राह्मण ही ले ...	पृष्ठ - 32
10.	अत्युत्तम कौन ?	पृष्ठ - 34
11.	ऋषि जीवन की कुछ ...	पृष्ठ - 36
12.	अमर बोधमय ध्रुव धारा	पृष्ठ - 39
13.	हिन्दी से ही हमारा अस्तित्त्व	पृष्ठ - 40
14.	जीवन में सङ्गीत का महत्त्व	पृष्ठ - 42
15.	बच्चों पर माता-पिता का प्रभाव	पृष्ठ - 44
16.	महर्षि उवाच	पृष्ठ - 46
17.	कुछ घरेलू नुस्ख़े	पृष्ठ - 46
18.	मित्र ही नहीं, शत्रु भी बनाने चाहिये	पृष्ठ - 47

ओ३म्

* विश्व-रोमाञ्च *

एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः।
क्रीडन्नूर्मिरपामिव ॥

(साम0, पूर्वा0-584)

[उरुः आङ्गिरसः ऋषिः। पवमानः सोमः देवता। काकुभः प्रगाथः छन्दः। मध्यमः स्वरः]

- पद्यार्थ -

इस तन में किस भाँति समाऊँ॥

तड़प ! तेज़ हो, व्योम-विहारी बादल बन उड़ जाऊँ।
लोक-लोक में घूम-घूम कर बरसूँ, सुख बरसाऊँ॥
इस तन में किस भाँति समाऊँ॥

बन तरङ्ग लिपटूँ सागर से, लाड-चाव सुख पाऊँ।
उछलूँ कूदूँ मचलूँ नाचूँ, सीकर-रास रचाऊँ॥
इस तन में किस भाँति समाऊँ॥

दिन भर रवि-किरणों में रल-मिल चमकूँ जग चमकाऊँ।
रात पाँति में तारा-गण की बैठ ज्योति झलकाऊँ॥
इस तन में किस भाँति समाऊँ॥

पवन-पक्ष पहरूँ पक्षी बन उड़-उड़ गगन गुजाऊँ।
प्रणव-प्रीति का शिखर-शिखर पर शङ्करनाद बजाऊँ॥
इस तन में किस भाँति समाऊँ॥

पं0 चमूपति

सम्पादकीय



राजा भर्तृहरि जी ने अपने नीतिशास्त्र में चार प्रकार के मनुष्यों की विवेचना करते हुए **देव-मनुष्य** और **राक्षस** तीन प्रकार की श्रेणियों के नामों का संकेत तो दिया है; परन्तु चतुर्थ श्रेणी के मनुष्यों का विवरण देते हुए स्पष्ट कहा है कि- इन चतुर्थ श्रेणी वाले मनुष्यों का क्या नाम होना चाहिये, मैं स्वयं नहीं जानता। कारण यह कि - ऐसे लोग संसार में बहुतायत में होते हैं, पर वे अपने रूप-स्वरूप का दिखावा इस प्रकार से करते हैं कि जन-सामान्य उनकी आन्तरिक स्थिति का ठीक प्रकार से आंकलन ही नहीं कर पाता।

'देव' विशिष्ट मनुष्यों का वह समूह है, जो अपना सर्वस्व समर्पण करके भी दूसरों के कल्याण में सदा निमग्न रहता है। ऐसे लोगों को हम महापुरुष भी कह सकते हैं।

दूसरी श्रेणी के मनुष्य-समूह में **'मनुष्य'** उसको कहा जाता है - जिसके अन्तस्तल में स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार की भावनाएं सन्निहित हैं। वह चाहता है कि मेरा भी कल्याण हो और संसार के अन्य मनुष्यों का भी।

'राक्षस' श्रेणी का मनुष्य-समूह वह समूह है - जो येन-केन-प्रकारेण सदा स्वार्थ की पूर्ति में निमग्न रहता है। परन्तु चतुर्थ श्रेणी के मनुष्य-समूह में वह लोग होते हैं जो स्वार्थपूर्ति से भी पृथक् रहकर सदा अन्य मनुष्यों को दुःख देने में स्वयं सुख की विशिष्ट अनुभूति करते हैं। इस कार्य में यदि उनके धन-बल-वैभव की कितनी भी हानि क्यों न हो जाय, उन्हें इस बात की किञ्चित् भी परवाह नहीं होती। चूंकि उनका ध्येय दूसरों को दुःख देना ही है, और वे इस प्रकार के दुष्कृत्य के अभ्यस्त हो चुके होते हैं, इसलिये उन्हें दूसरों को अधिक से अधिक दुःख देने में जितना आनन्द आता है, उतना शायद स्वयं सुख साधनों को भोगने में नहीं। राजा भर्तृहरि जी ने तो ऐसे लोगों के नाम न जानने की अपनी लाचारी प्रकट कर दी, पर युगप्रवर्त्तक महर्षि देव दयानन्द सरस्वती जी ने इस प्रकार के चतुर्थ श्रेणी के मनुष्यों को **'पिशाच'** नाम की संज्ञा देते हुए, उन्हें **'अनाचारी'** भी कहा है।

राजा भर्तृहरि जी द्वारा किये गये मनुष्यों के वर्गीकरण पर यदि आज विचार करने का दुस्साध्य प्रयत्न किया जाय, तो चतुर्थ श्रेणी के लोगों का समाज में बाहुल्य अधिक दिखायी देगा। ऐसा नहीं कि अन्य तीनों का अभाव हो गया; पर उनका अस्तित्त्व चतुर्थ श्रेणी के लोगों की अपेक्षा अत्यन्त न्यून है, ऐसा निश्चित कहा जा सकता है। 'देव' कोटि के लोगों की संख्या अत्यन्त न्यून है। स्वार्थ और परार्थ की सिद्धि की इच्छा रखने वाले मनुष्यों की संख्या देव कोटि के लोगों की अपेक्षा अधिक है। स्वार्थ-सिद्धि में तत्पर रहने वाले राक्षसों की संख्या देव और मनुष्य कोटि के लोगों से अधिक है। पर दूसरों को सदा दुःख देने की प्रवृत्ति का संवर्द्धन कर, उस कार्य में संलग्न रहने वाले मनुष्यों की संख्या बहुत अधिक है। याद रखो - आज का मनुष्य अपने दुःख से दुःखी नहीं है, अपितु वह दूसरों के सुखी होने से अधिक दुःखी है। ऐसे पैशाचिक प्रवृत्ति वाले लोग निरन्तर इस कार्य में प्रयत्नशील रहते हैं कि किस प्रकार से लोगों को

दु:ख-सागर में डुबोया जाय? उसके लिए उन्हें स्वयं कोई भी कष्ट क्यों न उठाना पड़े, इस बात की उन्हें कोई परवाह नहीं। ऐसा कार्य करने वालों को पिशाच व अनाचारी और उनकी प्रवृत्ति को पैशाचिक-वृत्ति कहा जा सकता है।

वर्त्तमान में ऐसे लोगों का बाहुल्य, उन लोगों के मार्ग में विशेष बाधाएं उत्पन्न करने का कार्य करता है, जो देवयान मार्ग का अवलम्बन प्राप्त कर निरन्तर कल्याण के कार्य में संलग्न हैं। पैशाचिक प्रवृत्ति वाले लोगों का मात्र उद्देश्य ही यही होता है कि किसी न किसी प्रकार से देव और मनुष्यों के कार्य में बाधा उपस्थित करना, जो सेवाधर्म को अपना लक्ष्य बनाकर **'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** की भावना को सार्थक बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

'धर्म संवर्द्धिनी सभा' पिछले दो दशक से जिस प्रकार के सेवा कार्यों में संलग्न है, पैशाचिक वृत्ति वाले पिशाच लोग उन समाजसेवी कार्यकर्त्ताओं को संतप्त करने के कार्य में प्रयत्नशील हो गये हैं। उन्हें सभा द्वारा किये जाने वाले संस्कृति-संरक्षण के कार्य, बाल-सुधार एवं अनाथों की सेवा करने के कार्य अच्छे नहीं लग रहे हैं, और वे येन-केन-प्रकारेण धर्म को अधर्म सिद्ध करने का दुष्कार्य कर रहे हैं। पर उन्हें यह ज्ञात नहीं कि जैसे सूर्य के प्रकाश को पूरे समय तक छिपाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार धर्म को अधर्म सिद्ध करने का कार्य तभी तक सफल हो सकता है, जबतक धर्म का प्रकाश लोगों के मन-मस्तिष्क तक नहीं पहुँचा है। धर्म का प्रकाश जैसे ही जनमानस के हृदय तथा मन-मस्तिष्क में प्रवेश करेगा, वैसे ही उनके अन्तस्तल में यह भाव स्थिर हो जायेगा कि अब तक जिनकी हम सुन रहे थे, वह असत्य और भ्रमित करने वाला था; धर्म नहीं।

कारण - **'धर्म'** मनुष्य-जीवन की वह शाश्वत आत्मा है, जिसको कुछ समय के लिए छिपाया तो जा सकता है, पर समाप्त नहीं किया जा सकता। जैसे आत्मा के बिना शरीर शव (मुर्दा) बन जाता है, वैसे ही बिना धर्म के मनुष्य-समाज प्राणहीन शव की भाँति जड़ बन जाता है। जैसे आत्मा के बिना शरीर का कोई मूल्य नहीं, वैसे ही मानवधर्म के बिना मनुष्य-समाज भी मृतप्राय हो जाता है। यह ठीक है कि आसुरी शक्तियाँ दैवशक्तियों को कुचलने का प्रयत्न करती हैं, पर अन्ततः विजय दैवी-शक्तियों की होगी।

हमारी **'धर्म संवर्द्धिनी सभा'** पिछले दो दशक से जिस प्रकार के सेवा-कार्यों में प्रयत्नशील रही है, उसका प्रभाव मात्र दिल्ली राज्य ही नहीं, अपितु उत्तरप्रदेश और हरियाणा में भी प्रवेश कर चुका है। संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर, नैतिक शिक्षा शिविर, योग शिविर आदि संस्कृति संरक्षण के कार्य ही नहीं, अपितु सभा के कार्यकर्त्ता उन लोगों तक पहुँचने के कार्य में संलग्न हैं, जो आर्थिक-शैक्षिक व वैचारिक रूप से अभावग्रस्त हैं। ऐसे लोगों के मध्य में पहुँचकर हमारी सभा के कार्यकर्त्ता मात्र आर्थिकरूप से ही उनका सहयोग नहीं करते, अपितु वैचारिक रूप से उन्हें मानवधर्म-वैदिकधर्म के प्रति आस्थावान बनाने का कार्य भी करते हैं। ऐसे उत्कृष्ट कार्यों को और अधिक गति-प्रगति तब ही दी जा सकती है, जब उदारमानी और धर्मप्रेमी लोगों की आहुति तन-मन-धन से इस धर्मयज्ञ में निरन्तर दी जाती रहे।

यदि आपने इस धर्मयज्ञ में आहुति देने का संकल्प किया, तो हमारी सभा समाज-सेवा के कार्यों को और अधिक गति देने में समर्थ होगी, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है। ❐

वेदामृतम्

आचार्य श्याम

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

(अथ0 3/30/1)

(ऋषिः अथर्वा। देवता चन्द्रमा सामनस्यञ्च। छन्दः अनुष्टुप्)

पदच्छेदः –

स-हृदयम्। सां-मनस्यम्। अविद्वेषम्। कृणोमि। वः। अन्यः। अन्यम्। अभि। हर्यत। वत्सम्। जातम्। इव। अघ्न्या।

शब्दार्थः –

(**सहृदयम्**) समान हृदय वाले (**सांमनस्यम्**) समान मन व विचार वाले (**अविद्वेषम्**) विद्वेष की भावना से रहित (**कृणोमि**) करता हूँ (**वः**) आपको (**अन्यः**) दूसरा (**अन्यम्**) दूसरे को (**अभि**) सब ओर से (**हर्यत**) प्रेम द्वारा आकर्षित करो अर्थात् उनके हृदय का हरण करो, जैसे (**वत्सम्**) बछड़ा (**जातम्**) जो अभी पैदा हुआ है, अर्थात् सद्योजात (**इव**) समान (**अघ्न्या**) गाय, जो कभी न मारने योग्य है।

भावार्थः –

हे मनुष्यो ! तुम सब समान हृदय व मन वाले होकर विचार करते हुए एक-दूसरे के साथ व्यवहार करो। किसी के साथ किसी भी प्रकार का विद्वेष मत करो। जैसे गाय सद्योजात बछड़े को अति प्रेम करती है, वैसे ही तुम्हारा व्यवहार भी प्रेममय हो।

महर्षि कृत भावार्थ –

हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर तुमको जैसी आज्ञा देता हूँ, वैसा ही वर्त्तमान करो; जिससे तुमको अक्षय सुख हो अर्थात् (**वः**) तुम्हारा (**सहृदयं**) जैसा अपने लिए सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो, वैसे माता-पिता, सन्तान, स्त्री-पुरुष, भृत्य, मित्र, पड़ौसी और अन्य सबसे समान हृदय रक्खो (**सांमनस्यम्**) मन से सम्यक् प्रसन्नता और (**अविद्वेषम्**) वैर-विरोध रहित व्यवहार तुम्हारे लिए

(कृणोमि) स्थिर करता हूँ, तुम **(अघ्न्या)** हनन न करने योग्य गाय **(वत्सं जातमिव)** उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है, वैसे **(अन्यो अन्यम्)** एक-दूसरे से **(अभि हर्यत)** प्रेमपूर्वक कामना से वर्ता करो।

व्याख्या -

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि **'अथर्वा'** है। 'अथर्वा' शब्द अहिंसक एवं व्रतधारी योगी अर्थ में और अनेकों स्थल पर 'वायु' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। **'त्वामग्ने पुष्करा दधि अथर्वा निरमन्थत** (ऋ0 6/16/13) **'अथर्वभ्योऽवतोकान्'** (तै0 ब्रा0 3/4/1/4) अथवा **'अथर्वा पूर्ण चमसं यम्'** (अथ0 18/3/54) वेदमन्त्रों के द्वारा यह शब्द चिकित्सक, विद्वान् अथवा सबका कल्याण करने वाले पुरोहित अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अङ्गिरा वंश के लोग भी अथर्वा के रूप में जाने जाते हैं। **'थर्व'** धातु का अर्थ है - चलना, अर्थात् गति करना। जब इस धातु के पूर्व में **'अ'** लगा दिया जाता है तो अर्थ हुआ - **न थर्वना** = स्थिर प्रकृति वाला, न कांपने वाला। श्री वामनराव आप्टे ने अर्थवन् ऋषि की सन्तान को अथर्वा कहकर सोम वा अग्नि के उपासक को **अथर्वा** कहा है।

प्रस्तुत मन्त्र के सन्दर्भ में यदि हम स्थिर रहने वाला अर्थ प्रयुक्त कर लें, तो अधिक उपयुक्त होगा। क्योकि जो मनुष्य जीवन में स्थिरता प्राप्त करना चाहता है, उसे अथर्वा ऋषि के समान स्थितप्रज्ञ बनकर परिवार-समाज व राष्ट्र का संरक्षण करना होगा, तभी परिवार-समाज व राष्ट्र में स्थिरता आ सकती है।

इस मन्त्र का देवता **'चन्द्रमा'** है, जो आह्लाद और शीतलता का द्योतक है। वह चन्द्रमा भौतिक रूप में प्रकाश व तेज, चाहे सूर्य से कितना भी ग्रहण करता हो, पर जब वह अपनी रश्मियों का पृथिवी पर उत्कीर्णन करता है तो उसमें शीतलता भी होती है और प्रसन्नता व आनन्द भी। ये चन्द्र-रश्मियां ही हैं जो वनस्पति जगत् में रस का संवर्द्धन करती हैं और सूर्य की रश्मियां उसका परिपाक। इस कारण से रस उत्पन्न करने वाला एक मात्र चन्द्रमा है, ऐसा हम स्वीकार कर सकते हैं। उसी प्रकार से परिवार-समाज में यदि कोई प्रसन्नता व आनन्द के रस को भरना चाहता है तो उसे स्वयं शीतल-शान्त स्वभाव वाला बनना होगा। क्रोधी अशान्त मनुष्य जब अपना कल्याण ही नहीं कर सकता, तो दूसरों का कल्याण कैसे करेगा ?

इसलिये कल्याण की इच्छा रखने वाले मनुष्य को चाहिये कि वह अपने स्वभाव को चन्द्रमा के समान शीतल व शान्त स्वभाव बनाने का प्रयत्न करे। वह शान्ति मात्र उसकी स्वयं की ही न हो, अपितु वह शान्ति **'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** की पवित्र भावना से ओतप्रोत होनी चाहिये। ऐसा जगत्-उपकारक मनुष्य ही अपने जीवन को तथा अन्यों के जीवन को आनन्द व शान्ति से पूरित कर सकता है।

यहाँ पर हम वेदामृत के रूप में जिस मन्त्र के शब्दों पर चिन्तन करना चाहते हैं, इन प्रमुख शब्दों को हम व्यक्तिगत जीवन में भी क्रियान्वित कर सकते हैं और सामाजिक जीवन में भी। जैसाकि हम सब जानते हैं कि - वेद

परमात्मा की वाणी है, जो संसार के समस्त मनुष्यों के कल्याण के लिए है। परमात्मा यदि हम सबका माता-पिता, भ्राता-सखा आदि सब कुछ है तो उसका उपदेश भी संसार के सब मनुष्यों के लिए ग्राह्य है। क्योंकि जितने-जितने सम्बन्ध इन नामों द्वारा व्यवहृत होते हैं, वह किसी एक विशेष गुण के कारण। पर यदि सभी गुणों को एक स्थान पर देखने की इच्छा है तो वह सिवाय परमात्मा के अन्य कहीं घटित नहीं हो सकते। जब परमात्मा की इतनी अनुकम्पा मनुष्य-मात्र पर है तो फिर मनुष्यों का भी कर्त्तव्य है कि वे परमात्मा के उपदेश को सुनें, उस पर विचार करें, पश्चात् उस पर आचरण भी करें।

प्रस्तुत मन्त्र में एक उपमा है, जो **'अघ्न्या'** के रूप में दी गई है और शेष उपदेश के लिए मात्र चार शब्द प्रमुख हैं, जो निम्न हैं –

(1) सहृदयम् = सहृदयता अर्थात् प्रेमपूर्ण भाव युक्त हृदय वाला होना।

(2) सांमनस्यम् = समान मन व शुभ विचार एवं संकल्पों वाला होना।

(3) अविद्वेषम् = वैर व द्वेष की भावना को छोड़ निर्वैरता का गुण धारण करने वाला होना।

(4) अन्यो अन्यमभि हर्यत = एक-दूसरे के साथ प्रेम का व्यवहार करने वाला होना।

मन्त्र में प्रयुक्त इन चारों शब्दों पर जब हम विचार करेंगे तो ये शब्द परिवार की एकता के लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं और समाज व राष्ट्र के लिए भी। आईये, हम पहले प्रथम शब्द पर थोड़ा-सा चिन्तन कर लें, उसके बाद परिवार-समाज व राष्ट्र के पक्ष पर विचार करेंगे। कारण यह कि मनुष्य-मनुष्य जुड़कर परिवार बनता है। परिवार-परिवार जुड़कर समाज बनता है। समाज-समाज जुड़कर राष्ट्र बनता है और राष्ट्र-राष्ट्र जुड़कर विश्व बनता है। इसलिये सबसे प्रथम अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाने का संकल्प लें, तभी आगे का कार्य सम्भव हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

एक बार एक पिता ने विश्व का मानचित्र फाड़कर अपने पुत्र के सामने रखकर कहा – 'पुत्र ! जैसा यह मानचित्र पहले था, तुमने इन टुकड़ों को जोड़कर वैसा ही बनाना है, ताकि यह मानचित्र पूर्व ही भांति बन सके।' बालक, पिता की बात मानकर उन टुकड़ों को जोड़ने के कार्य में लग गया। कभी वह किसी टुकड़े को किसी टुकड़े के साथ जोड़ता, फिर हटाकर उसे पृथक् स्थान पर जोड़ने का प्रयत्न करता। समस्या यह कि एक-दो टुकड़े ठीक दिखाई पड़ते, पर जब वह अन्य टुकड़े को उसके साथ रखने का प्रयत्न करता तो मानचित्र का रूप विरूप अवस्था में दीखने लगता। बालक थोड़ी देर के बाद बेचैन होने लगा और अपने पिता से बोला – 'पिता ! यह कार्य सम्भव नहीं है। मैं जोड़ने का प्रयास कर रहा हूँ फिर भी ये ठीक प्रकार से वैसा नहीं बन पा रहा, जैसाकि मानचित्र पूर्व था।' पिता ने बालक की बात सुनकर मुस्कराहट के साथ कहा – 'पुत्र ! यदि हम तुम्हें इनको सरलता से जोड़ना बता दें तो आपको कैसा लगेगा ?' पुत्र ने कहा – 'पिता ! इससे अच्छी और क्या बात होगी। मैंने तो बहुत प्रयास

कर लिया, मुझसे नहीं जोड़ा जाता; अब आप ही बताईये कि इसको कैसे जोड़ा जाय कि विश्व का मानचित्र पूर्ववत् बन जाय ?' पिता ने कहा – 'पुत्र ! जरा इन टुकड़ों को पलट करके देखो, कहीं इनके पीछे अन्य कोई चित्र तो नहीं बना हुआ।' बालक ने देखा तो उसे प्रतीत हुआ कि आंख, हाथ, पैर के चित्र उन टुकड़ों पर पूर्व ही अंकित हैं। उसे आभास हुआ कि इस मानचित्र के पीछे किसी मनुष्य का चित्र अवश्य है। अब बालक संसार के मानचित्र के स्थान पर उस मनुष्य के चित्र को जोड़ने के कार्य में लग गया। उसने जो-जो अङ्ग मनुष्य-शरीर में जहाँ-जहाँ होते हैं, उनको वैसे-वैसे रखता गया और कुछ ही क्षण में उस बच्चे ने उन टुकड़ों को जोड़कर मनुष्य के शरीर का चित्र बना दिया।

अब पिता ने बालक को समझाते हुए कहा – 'पुत्र ! जैसे और जिस प्रकार क्रम से तुमने इन टुकड़ों को जोड़कर मनुष्य का चित्र बनाया है, अब इन जुड़े हुए टुकड़ों को जरा पलट करके देखो कि पीछे क्या है ?' बालक ने जैसे ही उस मनुष्य के चित्र को पलटा, तो उसने देखा कि दूसरी ओर विश्व का मानचित्र भी पूरी तरह से दिखाई दे रहा है। तब पिता ने बच्चे को समझाते हुए कहा – 'पुत्र ! यदि संसार को श्रेष्ठ बनाना है तो पहले अपने को श्रेष्ठ बनाओ। संसार तो मनुष्यों का समूह है, जब सब लोग श्रेष्ठ होंगे तो संसार स्वयं ही श्रेष्ठ दिखाई देने लगेगा।'

इस कथानक से यह तो स्पष्ट है कि स्वयं के जीवन का निर्माण कर, परिवार को श्रेष्ठ परिवार बनाना, यह उत्तरदायित्त्व सर्वप्रथम हमारे कन्धों पर है। उसी श्रेष्ठता के लिए ही वेदभगवान् ने मात्र चार शब्दों के द्वारा जीवन जीने की कला को वर्णित किया है। आईये, अब इन शब्दों पर थोड़ा विचारकर, उन गुणों को धारण करने का संकल्प लें।

(1) सह॑दय॑म् –

इस शब्द में **'स'** शब्द समान अर्थ का द्योतक है, जिसको हृदय के साथ संयुक्त किया गया है। इस शब्द के सम्पूर्ण भाव को जानने से पूर्व यह आवश्यक है कि प्रथम **हृदय** शब्द को पूर्णरूप से समझ लें। जब हम इस शब्द पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे तो हम इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि हृदय हमारे शरीर का वह भाग है, जिसने मां के गर्भस्थ भ्रूण में जब से स्पन्दन प्रारम्भ किया था, तब से आयु पर्यन्त अवरोध रहित होकर कार्य में संलग्न रहता है। यदि अवरोध किसी कारण से उत्पन्न हो गया तो वहीं आप जीवन का अन्त समझ लीजिये।

वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर आकुंचन-प्रकुंचन वाले यन्त्र का नाम हृदय है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण शरीर में रक्त का संचरण नियमित रूप से चलता रहता है। हृदय स्पन्दन का अवरोध जैसे जीवनलीला समाप्ति का कारण बनता है, ठीक वैसे ही रक्त अवरोध लकवा जैसी बीमारियों का भी जनक है; जिसमें मनुष्य इतना अशक्त व असमर्थ हो जाता है कि वह स्वयं के कार्य करने में भी दूसरों की सहायता के बिना कार्य नहीं कर पाता।

अब थोड़ा-सा हृदय के दूसरे पक्ष पर भी विचार करें, वह पक्ष आँखों से नहीं देखा जा

सकता, पर इसे अनुभूत अवश्य किया जा सकता है। अध्यात्मवेत्ताओं ने इसे चेतना का केन्द्र माना है। उनका कथन है कि हृदय कैसे और किस रूप में कार्य कर रहा है, यह तो कोई डाक्टर बता सकता है, पर आपके हृदय में क्या भाव चल रहा है, इसे आप स्वयं ही जान सकते हैं। इसलिये हृदय केचल रक्त के आकुंचन-प्रकुंचन का यन्त्र ही नहीं, अपितु भावनाओं का केन्द्र भी है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। इस बात को आप इस प्रकार से समझ सकते हैं कि - जब आपके श्रवणेन्द्रिय के पास कोई सकारात्मक ध्वनि आती है तो आपके रक्तचाप की गति और हृदय की गति बिल्कुल सामान्य ही होती है, पर जैसे ही नकारात्मक भावनायें आपके अन्दर किसी परिस्थिति वशात् प्रवेश करती हैं, तो हृदय और रक्तचाप की गति में तुरन्त ही अन्तर आ जाता है। कभी-कभी हृदय की धड़कनें इस प्रकार से बढ़ जाती हैं कि आप उच्च रक्तचाप के शिकार भी हो जाते हैं। इसलिये आपका हृदय एक जैविक पम्प ही नहीं, अपितु वह ऐसा संवेदी अङ्ग है जिसकी मात्र अनुभूति ही की जा सकती है। तभी तो कला-साहित्य-सङ्गीत में हृदय को प्रेम, करुणात्मक भावनाओं का प्रतीक माना जाता है। इसके विपरीत नकारात्मक भावनायें हृदय-रोग की वृद्धि का कारक मानी जाती हैं।

बात सन् 2015 की है। अमेरिकन हार्ट ऐसोशियेशन के एक प्रसिद्ध डाक्टर ने एक बार अपने विचार एक सभा में प्रस्तुत करते हुए कहा था कि - 'अवसादग्रस्त किशोरों व नवयुवकों में हृदय रोग का ख़तरा तीव्रता से बढ़ता जा रहा है। ऐसे युवक प्रेम-करुणा आदि भावनाओं से पृथक् होकर या तो एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं, अथवा उनमें क्रोध और तनाव की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वे क्रोध के वशीभूत होकर हिंसक घटनाओं के रूप में अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करते हैं। शरीर-विज्ञान-वेत्ताओं के अनुसार तनाव व क्रोध मानव शरीर में 1400 से अधिक ऐसे रसायनों को उत्पन्न करते हैं जो कालान्तर में हिंसक रूप धारण कर लेते हैं।'

इन सब बातों से यह तो निश्चित है कि हृदय मात्र रक्त-संचरण के प्रवाह को गति देने का कार्य ही नहीं करता, अपितु वह भावनाओं का ऐसा पुञ्ज है, जिस पर सकारात्मक और नकारात्मक दोनों अवस्थाओं में प्रभाव पड़ता है। उसका परिणाम यह होता है कि हृदय की अन्तर्निहित भावनायें मनुष्य के विचार और व्यवहार को सुनिश्चित करते हुए बुद्धि पर शासन करती है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी स्वस्थ भावनाओं को जीवन्त रखने के लिए दया, करुणा, वात्सल्य, ममता, प्रेम, सहानुभूति एवं सत्य के प्रति समर्पण आदि गुणों को धारण करें, तभी उसके मनुष्य कहलाने का लाभ है।

कभी आप विचार करके देखें कि मां की कोख में पलने वाले बालक की पूर्व संचित संस्कारों के कारण प्रसन्नता व अप्रसन्नता की स्थिति जिस प्रकार की होती है, उसका प्रभाव मां के व्यवहार में भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है। कारण, गर्भस्थ शिशु के हृदय की धड़कन और उससे प्रस्फुटित होने वाली ध्वनि तरङ्गों में भाव और संवेदनाओं की इतनी सघन आत्मीयता

होती है, जिसे शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता है। इसलिये आपने देखा होगा कि रुदन करते हुए बालक को जैसे ही मां अपने वक्षस्थल से लगाती है, बालक रोना बन्द कर देता है। इसका कारण यही है कि बालक की ध्वनि तरङ्गें मां ही संवेदनाओं के साथ जब समवेत हो जाती हैं तो मां स्वयं ही उस बालक की आवश्यकता को महसूस करने लगती है। सुप्रसिद्ध मानव-शास्त्री **डा0 ली0 साल्क** के अनुसार मां के हृदय की धड़कनों के साथ उठने वाली ध्वनि तरङ्गें बच्चे में सन्तोष व आनन्द का अहसास प्रदान करती हैं। पाश्चात्य विद्वान् **डा0 डिस्पाण्ड मॉरिस** का मानना है कि हृदय की ध्वनि ही एकमात्र शाश्वत ध्वनि है, जिसको बालक सहजता से सुन व समझ सकता है।

कहते हैं कि इटली में एक प्रसिद्ध सन्त हुए हैं - **सन्त बेनेडिक्ट** (Saint Benedict)। उनके नियमों को **बेनेडिक्ट-नियम** कहा जाता है। बीसवीं शताब्दी के स्काटिश विद्वान् **एलास्डेयर मेंकिंटायर** ने एक बार अपने व्याख्यान में सभा को सम्बोधित करते हुए कहा था कि - 'आज के समय में एक नये बेनेडिक्ट की आवश्यकता है।' पांचवी शताब्दी के सन्त की बात को यदि बीसवीं शताब्दी वाला विद्वान् व्यक्ति उस सन्त को स्मरण कर रहा है तो यह निश्चित मानना पड़ेगा कि उस सन्त की कोई न कोई विशेषता होगी, जो आज के परिप्रेक्ष्य में आवश्यक है। यदि इस बात का गम्भीरता से आंकलन करें तो यह प्रतीत होगा कि सन्त बेनेडिक्ट ने समस्त भौतिक सुख-सुविधाओं को छोड़कर रोम के पास **सुवियाको** में रहकर तीन वर्ष तक साधना करने के बाद अपने मनोभाव अभिव्यक्त करने लिए 12 मठों की स्थापना कर, अध्यात्म-सन्देश देने का कार्य किया। अन्त में उन्होंने **मोंटे कासिनो** (Monte Cassino) में एक बृहद्-मठ की स्थापना की, जो उनके अनुयायियों का कालान्तर में संत के विचारों के प्रचार का मुख्य केन्द्र बन गया। संत बेनेडिक्ट के अनुसार यदि मनुष्य को जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त करने की इच्छा है तो प्रत्येक मनुष्य को अपने दिन के 24 घण्टों को पाँच भागों में अर्थात् **शयन, प्रार्थना, कार्य, अध्ययन** और **चिन्तन** के निमित्त बांट देना चाहिये। सात-आठ घण्टे शयन करने के बाद चार घण्टे प्रार्थना, छः-सात घण्टे आजीविकार्थ कार्य, चार घण्टे अध्ययन और शेष समय चिन्तन में व्यतीत करना चाहिये। उनका प्रमुख कथन था - **'हृदय की पुकार को सुनो।'** अर्थात् तर्क जगत् से पृथक् होकर सकारात्मक भावनाओं के साथ अपने को जोड़ो। सकारात्मक भावनायें मनुष्य को आनन्द की अनुभूति कराती हैं। उससे आपके अन्दर शक्ति का संचार होगा।

ऐसा कथन मात्र सन्त बेनेडिक्ट का ही नहीं, अपितु हमारे प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों ने लाखों वर्ष पूर्व ही हृदय की भावनाओं को चेतना का केन्द्र मानकर योग-साधना में इसको संयुक्त करने का कार्य किया था। हम सब जानते हैं कि योग विधा के ज्ञाता लोग शरीर में आठ चक्रों की चर्चा करते हैं, उनमें एक **'हृदयचक्र'** भी है, जिसे **'अनाहतचक्र'** भी कहा जाता है;

जो प्रेम और सन्तुलन का विशिष्ट प्रतीक है। उपनिषत्कार ने इस हृदय को आत्मा का निवास माना है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सत्य कामनायें हृदय मन्दिर में निवास करती हैं। पर इनका आभास इसलिये हमें नहीं हो पाता, क्योंकि विषयों के प्रति तृष्णा का आवरण उन भावनाओं को ढ़क लेता है। तभी तो लिखा है – **'सत्याः कामाः अपिधानाः'**। तृष्णाओं के अनृत आवरण के कारण अपने स्वरूप को मनुष्य नहीं पहचानता; जैसे पृथिवी के अन्दर रखा हुआ सोना। चलने वाले पथिक को यह नहीं पता कि जिस स्थान पर वह कदम रख रहा है उस मिट्टी के नीचे सोना दबा हुआ है, ठीक इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था वाले लोग आत्मनिधि की अनुभूति नहीं कर पाते, क्योंकि तृष्णारूपी आवरण से उनकी चेतना ढकी रहती है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जो साधक अपनी साधना व तप द्वारा जान लेता है, वह अनृत कामनाओं के आवरण को हटाकर, सत्य कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। कहा भी है –

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तꣳ हृद्ययमिति तस्माद् हृदयमहरहर्वा एवं वितन्वर्गं लोकमेति॥ (छा0 उ0 8/3)

अर्थात् – आत्मा हृदय में है। हृदय को हृदय इसलिये कहते हैं कि हृदि+अयम् = वह हृदय में है। जो इस रहस्य को जान लेता है, वह आत्मा को बाहर ढूँढ़ने के स्थान पर अन्दर ढूँढ़ता है और वहीं स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है।

बृहदारण्यक-उपनिषद् में एक प्रश्न उठाया गया है कि – **'प्रजापति क्या है?'** उपनिषद् का ऋषि उत्तर देते हुए कहता है कि – 'यह हृदय ही प्रजापति है। इस हृदय की **देव, मनुष्य** और **असुर** तीन सन्तानें हैं। यह तीन अक्षर **ह्+द+य** ही प्रजापति है। हृदय ही ब्रह्म है और यही सब कुछ है। **'ह्'** एक अक्षर है जो **'हृञ् हरणे'** धातु से निष्पन्न है, इसका अर्थ है – अभिहरण अर्थात् लाना। **'द'** यह दूसरा अक्षर है जो **'दा दाने'** धातु द्वारा निष्पन्न है, इसका अर्थ है– देना। तीसरा अक्षर **'य'** है, जो **'इण् गतौ'** धातु से निष्पन्न है, इसका अर्थ है गति देना। जो इस रहस्य को जान लेता है वह हृदय ही ब्रह्म है, हृदय ही सब कुछ है, ऐसे हृदय सम्बन्धी रहस्य को जानकर स्वर्गलोक को पा लेता है।

संस्कृत व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ **'निरुक्त'** में भी लिखा है कि – हृदय तीन कार्य करता है। **'ह्'** से हरति, **'द'** से ददाति, **'य'** से याति; अर्थात् जो लेता है, देता है और चलता है, वह हृदय है। ऐसा केवल रक्त संचरण कार्य में ही नहीं होता, अपितु भावनाओं के रूप में भी होता है, तभी तो हमारे यहाँ यज्ञ-प्रार्थना के समय पंक्ति गायी जाती है –

भावना मिट जायें मन से, पाप अत्याचार की।
कामनायें पूर्ण होवें, यज्ञ से नर-नार की॥

अब इसी हृदय शब्द के साथ जब समान अर्थ वाले अक्षर **'स'** को और संयुक्त कर दिया तो संस्कृत शब्द बना – **'सहृदयम्'**। अर्थात् समान हृदय वाले, समान भावना वाले, एक-दूसरे की भावनाओं का समादर करने वाले बनो; यही मानवीयता है और यही मानवधर्म है। महर्षि वेदव्यास जी की दृष्टि में यही समादर

करने वाली भावना **'धर्म का सार है'**। तभी तो उन्होंने कहा है – **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'** जो व्यवहार तुम्हें स्वयं अनुकूल प्रतीत न हो, वह व्यवहार तुम दूसरों के साथ मत करो।

अब आप इस भाव को परिवार में घटित करके देख लें, अथवा समाज व राष्ट्र में; सब ओर इससे विपरीत व्यवहार मिलेगा। परिणाम भौतिक उन्नति करने के बाद भी सब अशान्त और भयभीत हैं। जितने बाहर हम समृद्ध दिखायी देते हैं, यदि आन्तरिक पक्ष पर दृष्टि डालें तो अन्दर से हम पूरी तरह से खोखले हैं। इस खोखलेपन व अशान्ति को दूर करने का एक ही माध्यम है – **'सहृदयम्'** अपने हृदय की भावनाओं को पवित्र रक्खो। जिन पवित्र भावनाओं पर तृष्णा और स्वार्थ का आवरण विद्यमान है, उसे पूर्ण उद्योग से हटाने का प्रयत्न किया जाय। तभी तो महर्षि दयानन्द जी ने लिखा है –

"प्रत्येक को अपनी उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।"

पर उस उन्नति को कैसे प्राप्त किया जाय? उसका संकेत देते हुए महर्षि ने लिखा है –

"सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।"

वर्त्तमान समय में मनुष्य की धारणा इस प्रकार की बन गयी है कि – **'सबसे अधिक उन्नति मेरी हो। सब लोग मेरे आदेश का पालन करें।'** जब आप ऐसे लोगों के जीवन का आंकलन करने बैठेंगे तो आपको यह प्रतीत होगा कि जो हमें आदेश दे रहा था, उसको यदि कोई वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध किसी बात का संकेत भी दे दें, तो वह उनकी अवहेलना करने से नहीं चूकता। ऐसा आभास होता है कि उसमें सहृदयता की भावना समाप्त हो गयी है। जैसे रक्त-संचरण का कार्य निश्चित गति व नियम से हृदय करता रहता है, वैसे ही सहृदयी मनुष्यों को चाहिये कि वे भी धर्मानुसार अपने को सत्कार्य में सदा प्रवृत्त करें।

कभी आप विचार करके देखें कि माता-पिता और सन्तान के मध्य; पति-पत्नी के आपसी व्यवहार में; पड़ौसी-पड़ौसी के व्यवहार में स्वार्थ-कुतर्क-कठोरता को पृथक् कर, यदि **'सहृदयम्'** प्रेमपूर्ण भावनात्मक पक्ष को आगे रखकर व्यवहार किया जाय, तो निश्चित ही प्रेम-सौहार्द और आत्मीयता की जड़ें सुदृढ़ होंगी, और सब ओर से शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जायेगा। क्या कभी आपने विचार किया है कि जब विवाह-संस्कार होता है, तो वैवाहिक प्रक्रिया के अन्तर्गत अन्त में पति-पत्नी दोनों एक मन्त्र बोलते हैं –

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं मे अस्तु। ममवाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियनक्तु मह्यम्॥

(आश्व0 1/21/7)

यही मन्त्र जब ब्रह्मचारी गुरुकुल में विद्याध्ययन करने के लिए जाता है, तो आचार्य उसका उपनयन कराते समय ब्रह्मचारी से उच्चारण करवाता है; क्योंकि प्रत्येक शरीरधारी

मनुष्य में हृदय और चित्त दो ऐसी बहुमूल्य निधियाँ हैं कि यदि उनका सदुपयोग कर लिया जाय, तो कल्याण ही कल्याण है। चित्त विचारों का प्रतिनिधित्व करता है तो हृदय भावनाओं का। आचार्य और शिष्य विद्याध्ययन के समय, पति और पत्नी अपने गृहस्थकाल के समय यदि ऐसा तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित कर लें, तो बाह्य दृष्टि से अवश्य शरीर पृथक्-पृथक् होंगे, पर उनके विचार और भावनाओं में एक्यभाव ही होगा। इसी प्रकार राजा और प्रजा में वैचारिक और भावनात्मक विधाओं द्वारा यदि तादात्म्य सम्बन्ध बन जाय, तो राजा अपने कर्त्तव्य द्वारा प्रजा का हित करेगा और प्रजा राजा के हित में ही अपना कल्याण समझेगी।

रामायण काल के उन पृष्ठों का आप अवलोकन करें जिसमें युवराज श्रीराम का प्रजा के कल्याण के प्रति अनुराग अयोध्यानरेश को सोचने पर विवश करता है कि मेरा राम हर समय प्रजा के कल्याण में निरत रहता है, उसे मुझे अब अयोध्या का राजा बना देना चाहिये। क्योंकि -

न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते॥

(बा0 रा0 अयो0 1/14)

अर्थात् - श्रीराम के मुख से झूठी बात निकलते मैंने कभी नहीं देखा। वे विद्वान् होकर भी सदा वृद्धों का सम्मान करते हैं। प्रजा का श्रीराम के प्रति और श्रीराम का प्रजा के प्रति विशेष अनुराग मुझे स्पष्ट दिखायी देता है।

जब श्रीराम परिस्थिति वशात् वन में चले गये और चित्रकूट पर भरत अपने परिजनों-गुरुजनों तथा अयोध्यावासियों के साथ अपने बड़े भैया श्रीराम को वापस लाने के लिए जाते हैं, तो श्रीराम और भरत की वार्ता के मध्य श्रीराम भरत से कहते हैं -

कश्चिद् देवान्पितॄन्भृत्यान्गुरुन्पितृसमानपि।
वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे॥

(बा0 रा0 अयो0 100/13)

अर्थात् - प्रिय तात ! क्या तुम देवताओं, पितरों, भृत्यों, गुरुजनों, पिता के समान आदरणीय वृद्धों, वैद्यों और ब्राह्मणों का सम्मान करते हो ?

आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनायिकी च या।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि॥

(बा0 रा0 अयो0 112/16)

अर्थात् - तात ! तुम्हें जो यह स्वाभाविक विनयशील बुद्धि प्राप्त हुई है, इस बुद्धि के द्वारा समस्त भूमण्डल की रक्षा करने में भी पूर्णरूप से समर्थ हो, इसलिये हे भरत ! तुम जाओ और प्रजा की पितृवत् रक्षा करो।

उपर्युक्त दोनों स्थल पर प्रजा के प्रति कल्याण और कर्त्तव्य की भावना स्पष्ट दिखायी देती है। ऐसा इसलिये कि श्रीराम स्वयं सहृदयी हैं, और इधर भरत भी सहृदयी हैं।

इसलिये वेद भगवान् प्रेम-शान्ति-एक्यता का स्थापन करने का समस्त मनुष्यों को आदेश देते हुए कहते हैं - **'सह॑दय॑म्'** = प्रेमपूर्ण हृदय वाले बनो; एक-दूसरे की भावनाओं का समादर करने वाले बनो; निश्चित की कल्याण ही कल्याण होगा, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं।

सांमनस्यम् –

इस शब्द का अर्थ है कि – हमारा मन शुभ विचारों से परिपूर्ण रहे। कारण, मन को शास्त्रों में जड़ माना गया है; पर जब यह जीवात्मा के साथ संयुक्त हो जाता है, तो प्रतीत नहीं होता कि यह जड़ है ? क्योंकि इसकी गति इतनी तीव्र है कि तीव्र गति से चलने वाला प्रकाश भी इसके सामने बौना है। मन विचारशक्ति को लाने वाला ऐसा साधन है कि हमारे पास ज्ञानेन्द्रियाँ हों वा कर्मेन्द्रियाँ, बिना मन के इनका विशेष अस्तित्त्व नहीं है। हम जो कार्य करते हैं, यदि उसमें मन संयुक्त न हो तो उस कार्य का होना असम्भव ही है। जैसे आपका मन किसी अन्य विचार में उलझा हुआ है और आप उस विचार में पूरी तरह से डूबे हुए हों, उस समय यदि आपके सामने से कोई व्यक्ति क्यों न निकल जाय, आपको आभास ही नहीं होगा कि अमुक व्यक्ति मेरे सामने से अभी निकलकर गया है। इसी मध्य अचानक आपका परिजन आपसे प्रश्न कर बैठे – 'अरे राम ! क्या तुमने यहाँ से मोहन को जाते हुए देखा है कि वह किस दिशा में गया है ?' आपका उत्तर होगा – 'नहीं, मुझे नहीं पता कि वह किस तरफ गया है।' वह परिजन या सम्बन्धी आपसे पुनः पूछ बैठे कि – 'अभी वह दो मिनट पूर्व ही तो निकला है।' तब आपका उत्तर होगा – 'दादा ! मुझे इस बात का किसी भी प्रकार से ज्ञान नहीं है, क्योंकि मैं उस समय किसी दूसरे के विचारों में निमग्न था।'

इसका अभिप्राय यह हुआ कि बिना मन के इन्द्रिय रूपी नेत्र भी अपना कार्य करने में सक्षम नहीं है। इसी कारण से महर्षि मनु ने पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ मन को भी ग्यारहवीं इन्द्रिय मानकर उसे इन्द्रियों का राजा माना है। दर्शनशास्त्र के आधार पर विचारों को लाने ले जाने वाला मन है, विचारों का निर्णय करना बुद्धि का कार्य है। पर याद रखो बुद्धि के सामने जो कुछ होगा, बुद्धि उसी में से अच्छे-बुरे कार्य का निर्णय देगी; पर जो विचारों को लाने वाला है, यदि वह शुद्ध-पवित्र हो तो उसके द्वारा लाये गए विचार भी पवित्र होंगे और तब उन पवित्र विचारों में बुद्धि निर्णय करेगी कि पवित्रतम विचार कौन-सा है। इसलिये विचारों की निर्णायक स्थिति का दारोमदार यदि बुद्धि पर है, तो उससे पूर्व किस प्रकार के विचार लाये जायें, यह जिम्मेदारी मन पर भी है। इसलिये वेद में कहा गया है – **'सुमनसं मा कृणु स्वस्तये'** (अथ0 6/99/3) अर्थात् – हे परमात्मन् ! मेरे मन को शुभ बना दो, जिससे मेरा कल्याण हो। **'राया वयं सुमनसः स्याम'** (अथ0 14/2/36) अर्थात् – हे प्रभो ! मेरी यह भी प्रार्थना है कि मैं ऐश्वर्य प्राप्त करके भी अपने मन को विकृत न होने दूँ। मेरा मन शुभ विचारों को ही लाने वाला हो।

क्या आपको स्मरण नहीं है कि ऋषि-मुनियों ने दैनिक मन्त्रपाठ की जो व्यवस्था निश्चित की है, उनमें रात्रि को शयन से पूर्व छः मन्त्र उच्चारण करना अनिवार्य कहा है। उन सभी छः मन्त्रों की एक ही अन्तिम टेक है – **'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** (यजु0 34/1-6) अर्थात् – हे परमात्मन् ! मेरा मन सदा ही शिव संकल्पों वाला हो।

हम प्रायः यह समझा करते हैं कि **संकल्प** अच्छे विचार का नाम है और **विकल्प** बुरे विचार का नाम है; पर हमारी यह अवधारणा उचित नहीं है। यदि उचित होती तो फिर हमें **'शिवसंकल्पमस्तु'** शब्द बार-बार उच्चारण करने की क्यों आवश्यकता पड़ती ? इसका अभिप्राय यह कि आवश्यक नहीं, कि संकल्प अच्छा ही हो ? हमारी दृष्टि में मन द्वारा किसी विषय पर दिया गया प्रथम विचार **'संकल्प'** है, और उसी क्षण दूसरा आने वाला विचार **'विकल्प'** है। 'मैं जाऊँ या न जाऊँ ?' इस वाक्य में प्रथम विचार संकल्प है और दूसरा विचार विकल्प है। पर उसी क्षण आपके मन में पुनः यह विचार आया कि आज मुझे यह काम पूर्ण करना है, इसलिये मैं आज नहीं जा रहा, कल चला जाऊँगा; यह विकल्प है। मन मात्र विचारों को लाने ले जाने के व्यापार करने वाला साधन है, शेष आगे की प्रक्रिया बुद्धि पर अवलम्बित है।

अब प्रश्न यह है कि मन जिन विचारों को ग्रहण कर रहा है, उन विचारों के साथ सम्बन्ध जब अन्य इन्द्रियों का भी है, तो लाने वाला विचार शुभ क्यों न हो ? याद रक्खो , मन की विकृति मात्र मन पर ही प्रभाव डालकर उसे दूषित नहीं करती, अपितु उसके संसाधनों के रूप में जितने भी इन्द्रिय रूपी सहयोगी हैं, वे भी उसके दूषित प्रभाव से बच नहीं सकते; यहाँ तक कि उन इन्द्रियों का राजा **आत्मा** भी कुसंस्कारों के मैल को अपने साथ संयुक्तकर, शुभ संस्कारों को मिटाने के कार्य में संलग्न हो जायेगा।

आज हमारे जीवन पर मन ने इस प्रकार का शासन कर लिया है कि निर्णायक भूमिका निभाने वाली बुद्धि मन की गुलाम बनकर रह गयी है। हम अब जो भी कार्य करते हैं, उसमें मेरा मूड (मन) है या नहीं, उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करते हैं। पर उस प्रयत्न में हम यह भूल जाते हैं कि - 'मेरा कर्त्तव्य क्या है, कहीं मैं अकर्त्तव्य की ओर तो नहीं बढ़ रहा ?' इस विवेक को जाग्रत करने से पूर्व हमारा कर्त्तव्य यह है कि प्रथम हम अपने मन को शुभ विचारों वाला बनायें, पश्चात् उसे दृढ़ विचारों वाला भी बनायें। विचारों की शुचिता के लिए उसका दृढ़ होना भी आवश्यक है; इसके अभाव में शुभ विचार हवा में उड़कर मृत हो जाते हैं।

वर्त्तमान समय में हमने भौतिक विज्ञान के माध्यम से इतना विकास कर लिया है कि हम मृत्यु को पहले की अपेक्षा दूर रखने का सामर्थ्य प्राप्त कर चुके हैं। पर क्या सामर्थ्य हमारा खोखला नहीं है ? क्योंकि इस सामर्थ्य के पीछे जिस प्रकार हमारा अशक्त मन जुड़ा हुआ है, उस सामर्थ्यवान् को सामर्थ्यहीन बनने में कोई देर नहीं लगेगी। आज हमने शारीरिक रोगों से लड़ने की यदि क्षमता प्राप्त कर ली है और भविष्य में इसका और अधिक वृद्धि को प्राप्त करना सम्भव भी है, पर जिस प्रकार से हमारा मन विकृत व दूषित हो रहा है, उसे सुधारने का कार्य किसी भी धरातल पर नहीं हो रहा है। इसलिये आज का मनुष्य जितना मनोरोगी है, उतना उससे पूर्व कभी नहीं था। इस विकृति का परिणाम यह दिखायी दे रहा है कि हमारा विचार, हमारा व्यवहार, हमारा

भोजन आदि-आदि समस्त कार्य विकृत हो गये हैं। परिणाम, सब ओर से अशान्ति ही अशान्ति का साम्राज्य दिखायी दे रहा है। शान्ति भयभीत होकर किसी कौने में छिपी बैठी है, और अशान्ति का राक्षस हमें निगलता जा रहा है। इसलिये आवश्यकता है कि हम मन को शुभ विचारों वाला बनायें। उसको शुभ विचारों में इस प्रकार लगाये रखें कि अशुभ विचार आ ही न सकें, और वह मन शुभ विचारों को ग्रहण करने का पूर्ण अभ्यासी बन जाये।

स्मरण कीजिये महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के जीवन की उस दिव्य घटना को, जिसमें कलकत्ता प्रवास के मध्य जिज्ञासु अविनाश चन्द्र ने महर्षि से वार्ता के मध्य अचानक पूछ लिया - 'प्रभो ! आपका मन कभी बुरे विचारों की ओर जाता है या नहीं ? क्योंकि हम बुरे कार्य चाहे न करते हों, पर मन में बुरे विचार न आयें, ऐसा भी सम्भव नहीं है; तब क्या आपके मन में बुरे विचार नहीं आते ?'

अविनाश चन्द्र जी की इस जिज्ञासा भरी बात को सुनकर महर्षि ने दो मिनट आँखें बन्द कर प्रथम आत्मावलोकन किया, मानो वह आत्म-निरीक्षण करके स्वयं यह जानना चाहते हों कि जिस जिज्ञासामय प्रश्न को अविनाश जी ने मेरे समक्ष उपस्थित किया है, उसमें कितने प्रतिशत मैं उत्तीर्ण हूँ और कितने प्रतिशत अनुत्तीर्ण ? पर जब आँखें खोलकर उत्तर दिया, वह अवश्य चौकाने वाला था। महर्षि ने अविनाश जी को उत्तर देते हुए कहा - 'मेरे मन में कभी अशुभ विचार आया ही नहीं।' उत्तर सुनते ही प्रतिक्रिया देते हुए अविनाश जी ने महर्षि से पुनः पूछ लिया - 'भगवन् ! यह कैसे सम्भव है ? मेरी दृष्टि में अशुभ विचारों को मन में न आने देना, यह सम्भव ही नहीं है।' इस जिज्ञासा पर महर्षि ने उत्तर देते हुए कहा - 'अविनाश ! मेरे मन को अवकाश ही कहाँ था ? मेरे पास सत्कार्य करने की इतनी लम्बी सूची है कि जब मन उतने ही कार्य को पूरा नहीं कर पाता तो अशुभ विचारों को लाने के लिए इसके पास समय ही कहाँ होगा ? अविनाश ! याद रक्खो, मन को आपने जैसे ही ढ़ीला छोड़ा, उसको अवकाश दिया, वैसे ही आप सन्मार्ग से च्युत हो जायेंगे। तभी तो सद्भक्त अपने प्रभु से यह प्रार्थना करता है - **'मा युष्महि मनसा दैव्येन'** (अथ0 7/52/2) अर्थात् - हे मेरे पिता ! मैं दिव्य मन से कभी पृथक् न होऊँ, ऐसी कृपा मुझ पर आप अवश्य करना।

अब आप कल्पना कीजिये कि जब सभी मनुष्यों के पास दिव्य मन विद्यमान रहेगा, तब कहाँ होगी अशान्ति ? तब कहाँ होगा असत्य व अधर्मयुक्त व्यवहार ? तब कहाँ टिकेगा - स्वार्थ ? इसलिये यदि हम और आप चाहते हैं कि इस पृथिवी पर चहुँओर सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाये, तो उसके लिए आवश्यक है कि सहृदयी बनकर सद्भावों से संयुक्त होकर दिव्य मन के साथ अपने को पूर्णता से जोड़ें। यदि इतना कार्य हो गया, तो शान्ति-सुख का साम्राज्य स्थापित करने में कोई देर नहीं लगेगी। हाँ, इन दोनों कार्यों को करते समय हो सकता है कि शत्रुपक्ष प्रबलता के साथ

दिव्यता दूर करने का प्रयत्न करे, तो उस समय सावधानी के साथ पूरे आत्मबल से उस शत्रु को मारने का प्रबल प्रयास अवश्य करना होगा, जिससे उसके अनुयायी भागने पर मजबूर हो जायें और चहुँओर शन्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाये। वह शत्रु कौन है ? उसके लिए ही वेद-भगवान् कहते हैं -

(3) अविद्वेषम् -

यह शब्द **'अ'** और **'वि'** उपसर्ग पूर्वक **'द्विष् अप्रीतौ'** धातु के साथ **'घञ्'** प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। इसमें प्रमुख धातु **'द्विष्'** है, जो द्वेष या अप्रीति भाव की द्योतक है। जब **'द्वेष'** शब्द में **'वि'** उपसर्ग जोड़ दिया जाता है तो **'वि'** विशेष अर्थ को संयुक्त कर देती है; अर्थात् जब मनुष्य में विशेषरूप से द्वेष भावना पूर्णरूप से स्थिर हो जाय तो वह भावना **'विद्वेष'** कहलाती है। जब उस विद्वेष में **'अ'** उपसर्ग और जोड़ दिया जाय, तो वह नकारात्मक भाव प्रकटकर उस विद्वेष भावना को समाप्त कर प्रीति-प्रेम-सहानुभूति-दया आदि भाव को इंगित करती है।

हम यहाँ **'अविद्वेष'** शब्द की मीमांसा करें, उससे पूर्व **'द्वेष'** या **'विद्वेष'** शब्द पर प्रथम विचार करना आवश्यक समझते हैं। जैसाकि हमने निवेदन किया है कि **'वि'** उपसर्ग विशेषता या अतिशयता को प्रकट करता है, पर मुख्य शब्द **'द्वेष'** है; जबतक हम इस शब्द को पूरी तरह से नहीं समझते, तो उससे पूर्व इस शब्द की सम्पूर्ण विवेचना का कोई औचित्य नहीं बनता। कारण यह है कि **'द्वेष'** जीवात्मा के लक्षणों में एक भाग है। महर्षि गौतम ने **सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान** और **प्रयत्न** जीवात्मा के इन छः लक्षणों को उपस्थित करते हुए स्पष्ट कहा है कि - जहाँ ये छः प्रकार के लक्षण घटित हों, वहीं जीवात्मा की सत्ता विद्यमान है।

हम यहाँ इन लक्षणों पर विशेष टिप्पणी देना इस सन्दर्भ में उचित नहीं समझते। मात्र आप इतना ही जान लें कि सुख प्राप्त करने की इच्छा का नाम **'राग'** है, और जब उस राग के मार्ग में या जीवात्मा जिन वस्तु वा सुख को प्राप्त करना चाहता है, उसमें जब वह किसी को भी बाधक मानता है, तो उस विशेष राग की पूर्ति न होने की प्रतिक्रिया में जो भाव प्रकट होता है, उसे **'द्वेष'** कहा जाता है। अर्थात् सुख प्राप्ति में बाधक पदार्थों के साथ अप्रीति होने व विपरीत गुणों का भाव उत्पन्न होना ही द्वेष है। पर उस अप्रीति के साथ एक भाव और सहज उत्पन्न हो जाता है, उसका नाम है - **'ईर्ष्या'**। इसलिये आपने किसी विद्वान् के लेख वा निबन्ध में **'ईर्ष्या-द्वेष'** का साथ-साथ प्रयोग होते अवश्य देखा होगा। पर क्या आपने कभी यह विचार किया कि -**'ईर्ष्या'** क्या है ? जब आप इन दोनों शब्दों का अन्तर जानने का थोड़ा-सा भी प्रयत्न करेंगे, तब आपको ज्ञात होगा कि - किसी कारणवश अप्रीति या शत्रुभाव का उत्पन्न होना **'द्वेष'** है, पर उस दूसरे पुरुष की उन्नति देखकर मन ही मन कुढ़ना और उसके प्रति जलन का भाव स्थिर कर लेना **'ईर्ष्या'** है। दोनों शब्दों में इतनी अधिक सामीप्यता है कि ईर्ष्या है तो द्वेष होना स्वाभाविक है, और यदि द्वेष है तो उसकी

परिणिति ईर्ष्या के रूप में अवश्य उपस्थित हो जायेगी, ऐसा विद्वानों का कथन है।

जब मनुष्य में राग और द्वेष दोनों भावनाएं पूर्व से ही विद्यमान हैं, तो फिर द्वेष को कैसे समाप्त किया जाय, यह प्रश्न आपके समक्ष अवश्य उपस्थित हो जायेगा ?

इसका समाधान यह है कि परमपिता परमात्मा ने जब आपको **'मनुर्भव'** बनने का आदेश दिया है, तो मात्र मनुष्य जन्म पाकर तो आपके कार्य की इतिश्री नहीं हो जाती। यदि शरीर से ही मनुष्य शब्द की पूर्ति संभव होती, तो वेदभगवान् को **'मनुर्भव'** कहने की क्या आवश्यकता थी कि - हे मनुष्य ! तू मनुष्य बन?

याद रखो, वेदज्ञान परमात्मा ने मनुष्य मात्र के लिए सृष्टि की आदि में ही उपस्थित कर दिया। अब हमें यह विचार करना चाहिये कि वेद के उपदेश **'मनुर्भव'** को किस प्रकार सार्थक किया जाय? परमात्मा ने मनुष्य को छोड़कर संसार में जितने भी शरीरधारी प्राणियों को जन्म दिया है, उनके पास मात्र स्वाभाविक बुद्धि ही है; परन्तु मनुष्य को वह क्षमता प्रदान की है कि वह स्वाभाविक बुद्धि का जहाँ सम्प्रयोग कर सकता है, वहाँ वह नैमित्तिक बुद्धि से भी अपने कार्य व क्षमता का विशेष रूप में संवर्द्धन कर सकता है। **क्या-क्यों-कैसे** - ये शब्द जब मनुष्य अपने प्रत्येक कार्य में संयुक्त कर लेता है, तो उसे स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि - **'मेरा कार्य क्या है?'** यदि उसने यह चिन्तन करना छोड़ दिया तो वह मनुष्य कहलाने का किञ्चित् भी अधिकारी नहीं है।

अब प्रश्न यह है कि - जब द्वेष उसका स्वाभाविक लक्षण है, तो उसको निर्मूल कैसे किया जाय ? इसके समाधान के लिए प्रथम आपको यह विचार करना आवश्यक है कि जैसे जीवात्मा नित्य है, वैसे ही उसका कर्मप्रवाह भी नित्य है। उसके साथ संचित-क्रियमाण और प्रारब्ध का विपाक (फल) निरन्तर संयुक्त रहता है, तब उसे विचारने की प्रमुख आवश्यकता यह है कि यदि किसी मनुष्य ने अपने जीवन में भौतिक वा किसी अन्य प्रकार की उन्नति कर भी ली, तो उसके प्रति द्वेष वा जलन की भावना क्यों की जाय ? क्योंकि वह उसके पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है।

यदि तू चाहता है कि मैं भी वैसी ही समृद्धि प्राप्त करूँ, तो तू भी वैसा ही पुरुषार्थ कर। यदि पुरुषार्थ के बाद भी वह वस्तु तुझे हस्तगत न हो, तो पूर्वजन्म के कृतकर्म के दोष को मानकर सन्तुष्ट होता हुआ पुनः-पुनः उद्योग में संयुक्त हो जा। न जाने वह कब घड़ी आ जाये कि तेरा भी तीर सीधे निशाने पर जा लगे। यदि तू उस पुरुषार्थ को करना छोड़ देगा, तो अवसर अचानक आने पर तू उसको पकड़ नहीं सकता। अवसर का वही व्यक्ति लाभ उठा पाता है, जो पुरुषार्थी हो और सजग हो। ये दोनों गुण तेरी जीवनधारा को कभी न कभी बदल ही देंगे। इसलिये तू किसी की उन्नति देखकर घृणा मत कर, ईर्ष्या से कुण्ठा व जलन मत उत्पन्न कर। यदि तूने ईर्ष्या-द्वेष को अपने अन्दर बिठा लिया तो तू दूसरे का अहित न कर, स्वयं अपना ही अहित कर बैठेगा। और यदि किसी कुण्ठावश

तूने ग़लत कदम उठा भी लिया तो तू दूसरे का नाश करने से पूर्व अपना ही सर्वनाश कर बैठेगा। इतिहास के अधिकांश पृष्ठ इस प्रकार की घटनाओं से भरे पड़े हैं। इतिहास इसीलिये लिखे व पढ़े जाते हैं, जिनसे मनुष्य पूर्वजों द्वारा की गई ग़लतियों को सुधार लें और जो पूर्वजों के सुकृत व प्रतिष्ठात्मक कार्य हैं, उन्हें अपने जीवन के साथ संयुक्त कर लें।

महाभारत का उदाहरण सर्वप्रसिद्ध है। धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ जब किया गया तो उन्होंने आगन्तुक राजाओं द्वारा दिये जाने वाले उपहारों के संग्रह का कार्य दुर्योधन को सौंप दिया। जब देश-देशान्तर के राजाओं ने बहुमूल्य उपहार धर्मराज युधिष्ठिर के निमित्त भेंट में दिये, तो दुर्योधन उन उपहारों को देखकर अन्दर से ईर्ष्या से भर गया और मन ही मन विचार करने लगा कि ये उपहार मुझे मिलने चाहिये, क्योंकि मैं धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र हूँ; परन्तु ये उपहार युधिष्ठिर को दिये जा रहे हैं। ऐसा क्यों न किया जाय कि युधिष्ठिर को पदच्युत कर, मैं स्वयं राजा बन जाऊँ, जिससे ऐसे बहुमल्य उपहार भविष्य में मुझे प्राप्त हों। दुर्योधन जब ईर्ष्या की अग्नि से अधिक संतप्त होने लगा तो उसने अपने मामा शल्य के साथ मिलकर युधिष्ठिर को पदच्युत करने की योजना बनाई और उसने उसको क्रियान्वित करने के लिए क्या-क्या षडयन्त्र नहीं किये। उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त जुआ खेलने का षडयन्त्र रचकर सभी पाण्डवों को वनवास भेजने की योजना बनाकर पाण्डवों को सभी प्रकार के अधिकारों से वंचित कर दिया। जब 13 वर्ष के बाद सत्ता हस्तातरण करने का समय आया तो उसने फिर उसी कुचक्र के द्वारा पाण्डवों का अहित करने की ठान ली। भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधन की मनोदशा को पहले ही भांप चुके थे, पर युद्ध की विभीषिका को रोकने के लिए उन्होंने दुर्योधन के समक्ष पांचों पाण्डवों के जीवन-यापन के निमित्त पाँच गांव देने का प्रस्ताव रक्खा, पर दुर्योधन की हठता ने पाण्डवों को युद्ध करने पर विवश कर दिया। महाभारत का युद्ध 18 दिन तक चला, जिसमें 18 अक्षौहिणी सेना का संहार हुआ, जो वर्त्तमान गणित के अनुसार लगभग साढ़े अड़तालीस लाख बनता है। इतनी सेना का संहार होने के बाद भी दुर्योधन के हाथ कुछ भी न लगा। अपना जीवन बचाने की इच्छा से वह वहाँ से भागकर एक तालाब में जाकर छिप गया, तब भगवान् श्रीकृष्ण की नीति तथा भीम के उद्योग से उसे परलोक जाने पर विवश होना पड़ा।

अब आप कल्पना कीजिये कि यदि दुर्योधन उस ईर्ष्या-द्वेष की आग में न जलता तो वह स्वयं भी सत्ता का उपभोग कर सकता था और पाण्डव भी। पर वह ऐसा न कर सका, परिणाम उसको शीघ्र ही काल-कवलित होना पड़ा। महाभारत-काल में जो दोष था, क्या वह आज नहीं है ? जब इसका उत्तर ढूँढ़ेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि उस काल में ईर्ष्या-द्वेष करने वाले गिने-चुने लोग होते थे, पर वर्त्तमान में इस दोष की बाढ़-सी ही आ गई है। यही कारण है कि आज हमारे मन के विचार नहीं मिलते, न हृदय की भावनाएं मिलती हैं। और मिलेंगी भी

क्यों ? क्योंकि विद्वेष की अग्नि ने वह सामान भी जलाकर खाक़ कर दिया, जो हमारी अमूल्य निधि थी। इस अमूल्य निधि के नष्ट हो जाने पर हम बेचैन तो हैं, पर इस अग्नि को नष्ट करने में असमर्थ हैं। यह अग्नि मनुष्य के हृदय में निरन्तर सुलग रही है, इसलिये आवश्यक है कि वेद के निम्न मन्त्र को बार-बार स्मरण किया जाय -

द्विषो॑ नो विश्वतोमु॒खाति॑ ना॒वेव॑ पारय।
अप॑ नः शोशु॑चद॒घम् ॥

(ऋ0 1/97/7)

अर्थात् - हे पिता ! जैसे नाव के द्वारा नदी को पार किया जाता है, वैसे ही हमें भी द्वेष से पार लगाकर, हमारे इस पाप का निवारण कर दो।

कारण कि यह द्वेष रूपी शत्रु बाहर से लघुकाय दिखाई देता है, पर आपकी मनोवृत्ति व हृदय को दूषित करने के लिए अन्दर ही अन्दर यह भीमकाय हो जाता है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा था कि- हे अर्जुन ! द्वेष रूपी शत्रु के वश में न होकर तुम्हें इसको अपने वश में करना है। यथा -

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

(गीता 3/34)

अर्थात् - इन्द्रिय से इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग-द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्य को उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये दोनों ही कल्याणमार्ग में विघ्न उत्पन्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥

(गीता 7/27)

अर्थात् - हे भरतवंशी अर्जुन ! संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोह से सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञता (मूर्खता) को प्राप्त हो रहे हैं।

महर्षि पतञ्जलि जी ने जब अपने योगशास्त्र विषयक ग्रन्थ को लिखा, तो उन्होंने उस चर्चा के अन्तर्गत पाँच प्रकार के क्लेशों को निर्मूल करने का सन्देश देते हुए उन पञ्च क्लेशों में **'द्वेष'** को भी महाक्लेश मानकर उसे विनष्ट करने का संकेत दिया है।

हमारे धर्मग्रन्थ वेद में भी पदे-पदे इस द्वेष को विनष्ट करने का संकेत देते हुए कहा है-

अति॑ गाहेमहि॒ द्विष॑ः ॥ (ऋ0 2/7/3)

अर्थात् - हम द्वेष वृत्तियों को मसल दें।

वि द्वेषा॑ꣳसीनुहि ॥ (ऋ0 6/10/7)

अर्थात् - हे मनुष्य ! तू द्वेष का परित्याग कर।

द्वि॒षो अंह॑ांसि दुरि॒ता त॑रेम॒ ॥ (ऋ0 6/2/11)

अर्थात् - द्वेष करने वाले तथा पापों से हम सदा पार होवें।

आरे दे॑वा॒ द्वेषो॑ अस्मद्यु॑योतन॒ ॥(ऋ0 10/63/12)

अर्थात् - हे देवो ! हमें आप द्वेषियों से दूर करो।

बाध॑ता॒ द्वेषो॒ अभ॑यं कृणोतु ॥ (ऋ0 6/47/12)

अर्थात् - हे देवो ! मेरे द्वेष का निवारण करके मुझे अभयता प्रदान करो।

हमारी वैदिक परम्परा में जब प्रातः-सायं सन्ध्या के मन्त्रपाठ का विधान निश्चित किया गया है, उसमें छः बार मन्त्रांश पढ़ा जाता है -

यो३ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तं वो॒ जम्भे॑ दध्मः ॥ (अथ0 3/27/1-6)

अर्थात् – हे पिता ! हम जिससे द्वेष करते हैं वा अन्य कोई हमसे द्वेष करता है, हम उसे आपकी न्याय तुला पर रख देते हैं।

महर्षि शुक्राचार्य जी ने तो द्वेषी के साथ उपकार न करने का सन्देश देते हुए लिखा है –

नापकुर्यान्नोपकुर्याद् भवतोऽनर्थकारिणौ ॥

(शु0 3/218)

अर्थात् – स्नेही के साथ अपकार और द्वेषी के साथ उपकार कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये दोनों अनर्थ पैदा करते हैं।

महात्मा विदुर जी ने तो **"लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम्"** कहकर द्वेष करने वाले और कठोर व्यवहार करने वाले को कभी आश्रय न देने का संकेत अपने नीतिशास्त्र में किया है। तभी तो कहा गया है –

दंभ-द्वेष-छल-छद्म की, फाड़ कैंचुली फाड़।
मुर्दा, मुर्दा ही रहे, इतना गहरा गाड़ ॥

जब आप द्वेष के अंकुर को ही नष्ट कर देंगे तो फिर विद्वेष के पादप का उत्पन्न होना असम्भव है। इसलिये वेद हमें एकता का सन्देश देते हुए कहता है – **'अविद्वेषम्'** हम अपने जीवन में विद्वेष की भावनाओं को समाप्त कर, उच्च विचार वाले सहृदयी चिन्तक बनें; क्योंकि अविद्वेषता विश्वप्रेम और विश्वहित की जन्मदात्री है। उसके लिए मन्त्र का अन्तिम पद सन्देश देते हुए कहता है –

(4) अ॒न्यो अ॒न्यम॒भि ह॑र्यत व॒त्सं जा॒तमि॑व अ॒घ्न्या –

उपर्युक्त शब्दों की विवेचना करते हुए हमने निवेदन किया था कि द्वेष की भावना मात्र विद्वेष की वृद्धि का ही कारण नहीं है, वरन् वह मन और हृदय की वैचारिक भावनाओं का हनन करने वाली भी है; इसलिये **'अवि॑द्वेषम्'** इस द्वेष की भावना को समाप्त करना ही कल्याणकारी होगा। हाँ, उसके लिए आवश्यक है कि **'अ॒न्यो अ॒न्यम॒भि ह॑र्यत'** एक-दूसरे के साथ हम प्रेमाकर्षण में इस प्रकार बंध जायें, जैसे **'व॒त्सं जा॒तमि॑वा॒घ्न्या'** सद्योजात बछड़े पर गौ माता अपने प्रेम को प्रकट करती है, उसी तीव्र भावना से हम लोग प्रेम से इस प्रकार संयुक्त हो जायें कि इस विद्वेष रूपी दानव को निर्मूल कर सकें, तभी **'सह॑दयं॑ सांमन॒स्यम्'** की उत्तम भावना को चरितार्थ करने में हम सक्षम हो सकेंगे।

विचारणीय बात यह है कि जिस एक-दूसरे के प्रति व्यवहार के निमित्त वेदभगवान् ने **'ह॑र्यत'** क्रिया का प्रयोग किया है, जब उसके अर्थ को जानने का प्रयत्न करेंगे तो ज्ञात होगा कि 'हर्यत' क्रिया का प्रयोग वेद में मात्र एकस्थल पर ही नहीं, अपितु अनेकों स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग हुआ है। 'हर्यत' शब्द **'हर्य'** धातु से बना है जो गति और कान्ति अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु शास्त्रवेत्ता विद्वान्-जन **'हर्यत'** शब्द का अर्थ – **'स्पृहणीय, कान्तिमान्, प्रज्ञाकर्म** और **चाहने योग्य** अर्थ में भी प्रयुक्त करते हैं। यदि इस स्पृहणीय को उत्कण्ठा में परिवर्तित कर दिया जाय, तो 'हर्यत' शब्द का अर्थ हृदय का हरण करने के कारण या हृदय उद्वेग के कारण **'आकर्षण'** अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ सुगम प्रतीत होता है। जब

'हर्यत' शब्द का अर्थ आकर्षण रूप में करेंगे, तो **'अन्यो अन्यमभि हर्यत'** इस पद का अर्थ होगा कि - हम सबका व्यवहार इतना उत्कृष्ट एवं सरल हो कि दूसरा मेरे प्रति तथा मैं दूसरों के प्रति आकर्षित हो जाऊँ।

अब प्रश्न यह है कि - **'इस आकर्षण का आधार क्या है ?'** उत्तर होगा - **'प्रेम'**। क्योंकि जब किसी पदार्थ वा किसी व्यक्ति की चाहना कर, हम उसके प्रति आकर्षित होते हैं, तो उसके मूल में उसके गुणों का आकर्षण उसके प्रति प्रेम की भावना को उद्भूत करता है।

आजकल जिस प्रकार से प्रेम की परिभाषायें कही व लिखी जा रही हैं अथवा प्रेम को जिस रूप में प्रकट किया जा रहा है, वह वास्तविक प्रेम नहीं है। पर विडम्बना यह है कि हम इस प्रकार के क्षणिक आकर्षण को प्रेम मानकर अपने और दूसरों को भी धोखा दे रहे हैं। यदि ऐसा न होता तो प्रेमविवाह करने वालों में तलाक जैसा विषम परिणाम क्यों देखने को मिलता ? वर्त्तमान में जितने भी प्रेमविवाह किये जा रहे हैं, यदि शत-प्रतिशत न सही तो 70-80% ऐसे हैं, जिनकी परिणिति विवाह-विच्छेद के रूप में होती हे। ऐसा क्यों ? इसका कारण यह है कि वहाँ प्रेम सिर्फ शारीरिक वासना की पूर्ति का माध्यम है। जहाँ शारीरिक वासना की पूर्ति हुई या उस वासनापूर्ति में किसी अन्य सदस्य का प्रवेश हुआ, कि प्रेम काफूर हो गया। कारण - पहले पति-पत्नी का विवाह होता था, उसकी परिणिति प्रेम के रूप में आजीवन दिखाई देती थी। पर आज प्रेम पहले दिखाई देता है, उसकी परिणिति जब विवाह के रूप में हो जाती है, पर वह प्रेमविवाह कुछ समय बाद विच्छेद के रूप में परिणित हो जाता है; क्योंकि वह प्रेम शारीरिक वासना के पूत्यर्थ था। शारीरिक भूख मिट गई और प्रेम समाप्त हो गया। इसे हम 'प्रेम' का नाम देकर 'प्रेम' शब्द को भी बदनाम कर रहे हैं; जबकि प्रेम दो हृदयों का मिलन है, जिसमें सात्विकता है, जिसमें अहम् को मिटाकर समर्पण व सेवा से संयुक्त होना पड़ता है। इसकी गति या इसका आकर्षण शरीर के अवयव या उसकी पूर्ति का साधन नहीं, अपितु इसकी गति आत्मा तक है, हृदय की उन गहराईयों तक है, जिसमें एक-दूसरे के प्रति अपने आपको पूरी तरह से समर्पित कर दिया जाता है। तभी तो विवाह संस्कार में एक मन्त्र आता है -

यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।
यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव॥

(मं0 ब्रा0 1/3/8)

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियनक्तु मह्यम्॥

(पार0 गृ0 1/8/8)

प्रजापति परमात्मा ने **'प्रजापतिस्ष्ट्वा नियनक्तु मह्यम्'** हम दोनों को नियुक्त व संयुक्त किया है, इसलिये मैं अपने हृदय को आपके हृदय में तथा आप अपने हृदय को मेरे हृदय के साथ संयुक्त करते हैं, जिससे हमारे मन के विचार व चिन्तन और हृदय की भावनायें, हमारे कार्य सब प्रकार से एक हो जायें। जैसे रथ के अरे नाभि के साथ संयुक्त हैं, उसी प्रकार हमारा यह प्रेम

सम्बन्ध **'जरदष्टिर्यथासः'** (ऋ0 10/85/36) जब तक जीवन है, तक तक बना रहेगा।

जब इस प्रकार के समर्पण का संकल्प विवाह के अवसर पर स्त्री-पुरुष ले लेते हैं, तब उनका यह सम्बन्ध विच्छेद के रूप में कभी परिवर्तित नहीं होता। क्योंकि इस प्रेम में स्वार्थ नहीं है, यदि है तो एकमात्र समर्पण। समर्पण में कभी दूसरे की न्यूनता का आंकलन नहीं किया जाता, अपितु स्वयं को इस योग्य बनाया जाता है कि दूसरे को कभी भी यह आभास न हो कि मैं आपके लिए अनुपयुक्त हूँ। तभी तो मनुजी अपने धर्मशास्त्र में लिखते हैं -

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥
(मनु0 3/60)

अर्थात् - जिस परिवार में पति, पत्नी के व्यवहार व कार्यों से सन्तुष्ट हो और पत्नी अपने पति के कार्य व व्यवहार से; तब आप यह निश्चित ही मान लीजिये कि उस कुल का कल्याण ही कल्याण होगा।

कल्पना कीजिये कि जिस गृहस्थ में इस प्रकार की उत्कृष्ट भावनायें होंगी, वह गृहस्थ कितना सुन्दर होगा। तभी तो वेद ने उस दिव्य प्रेम का संकेत देते हुए उसकी उत्कृष्टता की उपमा गौ और उसके सद्योजात बछड़े से की है। क्या इससे अधिक उत्तम और कोई उपमा हो सकती है ? कभी आप विचार करें कि गाय को **'अघ्न्या'** इसीलिये कहा गया है उसका हनन किसी भी प्रकार से न किया जाय; क्योंकि गौ अपने दुग्धामृत से समस्त मानवजाति का परिपालन करती है, इसलिये वह **अघ्न्या** भी है और **माता** भी है। इसलिये हमारे शास्त्रों में **'पञ्चैता मातरः स्मृताः'** (चाण0 5/23) कहकर गौ को भी मातृवत् सम्मान दिया है।

अब आप गौ के मुख भाग पर दृष्टि डालिये, जिस मुखभाग के अन्दर उसकी जिह्वा विद्यमान है। हम सब जानते हैं कि वह जिह्वा रस का आस्वादन कर, अच्छे-बुरे पदार्थ होने का संकेत देती है। वही गाय अपने सद्योजात बछड़े के प्रति प्रेमाकर्षण में इतनी आसक्त हो जाती है कि उसे चाट-चाट कर बछड़े की मलिनता को दूर कर, उसे स्वच्छ बना देती है। यह ठीक है कि उसके पास हमारे जैसे हाथ रूपी साधन नहीं हैं, पर जिह्वा से चाटकर साफ करना, क्या उसके अपने बछड़े के प्रति प्रेम की अतिशयता नहीं है ? इसीलिये वेदभगवान् ने उसी अतिशय प्रेम का सन्देश देते हुए कहा कि - 'तुम सब एक-दूसरे के प्रति प्रेमाकर्षण में आबद्ध होकर एक-दूसरे की भावनाओं का समादर करो।' जब प्रेम की अतिशयता में मनुष्य आबद्ध हो जाता है, तब उसका सम्बन्ध शरीर तक ही सीमित नहीं रह जाता, अपितु वह पूर्णता के साथ उसकी आत्मा का भी स्पर्श करता है।

जिन राष्ट्र-नायकों ने अपने जीवन की आहुति देकर इस राष्ट्र की रक्षा की, उनके जीवन का जब आप अवलोकन करेंगे, तो उनके राष्ट्र-प्रेम में स्वार्थ नहीं, बल्कि समर्पण दिखाई देगा। समर्पण में अपना जीवन तुच्छ दिखाई देने लगता है और दूसरी वस्तु अमूल्य। जिस **भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, रामप्रसाद**

बिस्मिल, वीर सावरकर जैसे अनेकों देश-भक्त वीरों ने राष्ट्र की बलिवेदी पर अपने प्राणों की आहुति दी, उनमें राष्ट्र के प्रति सेवा-समर्पण की भावना और राष्ट्रप्रेम की अतिशयता इतनी पराकाष्ठा पर थी कि प्रत्येक क्रान्तिकारी फांसी के फन्दे को हंसकर चूमने के बाद यही कहता था कि 'मैं जब इस भारत माँ की गोदी में पुनः जन्म लेकर आऊँ, तो मुझे इस भारत माँ की सेवा करने का जब-जब अवसर मिलेगा, इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझूंगा।

न चाहूँ मान दुनिया में, न चाहूँ स्वर्ग में जाना।
मुझे वर दे यही माता, रहूँ भारत का दीवाना।
करूँ मैं कौम् की सेवा, पड़े चाहे करोड़ों दुःख।
अगर फिर जन्म लूं जाकर तो भारत में ही हो आना॥

प्रेम जब सच्चा होता है तो उसमें दिव्य भावनाओं का अंकुरण प्रस्फुटित होने लगता है। दिव्य भावनाओं को जब समर्पण और सेवा के जल से सिंचित किया जाता है, उसमें सर्वस्व अर्पण करके भी जो आनन्दानुभूति की जा सकती है, वह अवर्णनीय है। वैसे अनुभूति को शब्दों में बांधना अत्यन्त दुरुह कार्य है, पर यदि कोई शब्द-शास्त्र का चितेरा अपनी काव्यात्मक प्रतिभा द्वारा शब्द रचना से उन मनोभावों को अपने काव्य में उकेरने की कोशिश भी करे, तो भी वह आनन्द या प्रेम की अतिशयता की अनुभूति पूर्णरूप से शब्दों में वर्णित नहीं कर सकता। जिस माँ का पुत्र अनेक वर्षों के बाद माँ के सामने उपस्थित हुआ हो, उस समय माँ के मुख से शब्दों का व्यापार न होकर आनन्दाश्रुओं द्वारा ही माँ अपनी प्रेम की अतिशयता को प्रकट करती है। इसलिये वेदभगवान् ने भी उस सात्त्विक प्रेम के संवर्द्धन का सन्देश देते हुए संसार के लोगों को कहा -

हे संसार के लोगो ! तुम सब एक-दूसरे के साथ व्यवहार में प्रेम का इस प्रकार से प्रयोग करो कि उसमें द्वेष-विद्वेष के अंकुरण की किसी भी रूप में सम्भावना न रह जाये।

वह प्रेमाकर्षण लोभ या वासना से उत्पन्न न होकर दिव्य भावनाओं व दिव्य विचारों पर आधारित हो। जब दिव्य विचार और दिव्य भाव कोई साधक अपने सद्ज्ञान के साथ संयुक्त कर, साधना मार्ग पर चलने लगता है, तो फिर उसके जीवन की दिशा की बदल जाती है। तब वह शरीर के लिए नहीं जीता, अपितु शरीर द्वारा अपने प्रियतम परमात्मा को प्राप्त करने के लिए जीता है।

इस प्रकार दिव्य-प्रेम का पुजारी, अहम् को मिटाकर सहजता-सरलता, यथार्थता-सेवा व समर्पण से संयुक्तकर, उस दिव्य-मार्ग पर चलते हुए प्रभु से एक ही प्रार्थना करता है -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

इस प्रकार की दिव्य भावनाएं जब मनुष्य के साथ संयुक्त हो जाती हैं, तब वह प्रत्येक आत्मा में परमात्मा का दर्शन करते हुए विश्व-कल्याण को ही आत्म-कल्याण समझ जीवन समर्पित कर, आत्मा का विस्तार करना ही अपना कर्त्तव्य मानता है, जिसमें शाश्वत सत्य, शान्ति व आनन्द की पूर्णता सन्निहित है। ❐

वैदिक यज्ञ : स्वरूप एवं उद्देश्य

रामभक्त लंगायन
पटियाला (पञ्जाब)

यज्ञ-परम्परा उतनी ही पुरानी है जितनी कि धार्मिक परम्परा। यज्ञ का स्वरूप हमें सभी प्राचीन धर्मों में किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। वैदिकधर्म में तो इसका उतना ही माहात्म्य है, जितना पानी का जीवधारियों के लिए होता है। यज्ञ को समझे बिना वैदिकधर्म तथा अनेक वैदिक विषयों का समझना असम्भव है। हम कह सकते हैं कि - **यज्ञ वैदिक संस्कृति के प्राण हैं।**

यज्ञ का स्वरूप आज भी हम किसी न किसी रूप में देखते हैं। वैदिक साहित्य में यह ऋग्वेद से उपनिषदों तक सतत् आकर्षण का केन्द्र बना रहा। वैदिक-साहित्य दीर्घ समय तक फैला होने के कारण इसमें उतार-चढ़ाव अवश्य होता रहा; लेकन इस संकल्प का प्रवाह पानी की तरह निरन्तर बना रहा। ऋग्वेद में हमें सर्वप्रथम यज्ञ के दिग्दर्शन होते हैं। यहाँ यज्ञ-भावना बड़ी सरल है। इसके अवान्तरकाल में यज्ञ विकासोन्मुख होता गया। ब्राह्मण-साहित्य में तो यज्ञों का ही साम्राज्य दिखाई देता है। सारे विषय यज्ञ-विद्या के ही आसपास घूमते दिखाई देते हैं। यज्ञस्थली ऐसा मालूम पड़ती है कि मानो वह एक विशाल शिक्षण-संस्था हो या एक विशाल मानचित्र हो, जहाँ अनेक प्रकार के विषयों - भूगोल, इतिहास, गणित, शिल्पशास्त्र, सङ्गीत, आयुर्वेद, साहित्य, दर्शन, नक्षत्र-विद्या आदि का समुचित ज्ञान दिया जाता है। ब्राह्मणों के काल में यज्ञ पर पुरोहितों का एकाधिकार हो जाता है। ब्राह्मण लोग धरती पर देवता बन बैठते हैं और भिन्न-भिन्न दक्षिणाओं से उनका आदर-सत्कार किया जाता है। यज्ञ बड़ा पेचीदा कार्यकलाप हो जाता है और इसे लोग जादू-टोना समझने लग जाते हैं। इससे यज्ञ की वास्तविक भावना लुप्त हो जाती है। जो याज्ञवल्क्य, जनक विदेह आदि के कोपभाजन और आलोचना का कारण बन जाती है। वे भौतिक यज्ञ को देवताओं को प्रसन्न करने के अतिरिक्त कुछ नहीं समझते और इस प्रकार की भावना से, जहाँ डर और स्वार्थ की भावना प्रबल होती है, किये गए यज्ञ को वे तुच्छ समझते हैं। वे यज्ञ के आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक जोर देते हैं। उनका कहना है कि यज्ञ के प्रत्येक मन्त्र को विचारपूर्वक गाया जाये और प्रत्येक क्रिया मनन से की जाये। इस प्रकार के विचार अन्त में आरण्यकों और उपनिषदों में परिपक्वावस्था में पहुँच जाते हैं, जहाँ केवल यज्ञ के आध्यात्मिक पक्ष पर ही जोर दिया गया है। यज्ञ वहाँ आत्म-शुद्धि और ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बन जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यज्ञ-परम्परा का सारे वैदिक साहित्य में अनुपम स्थान है;

लेकिन उसका प्रचलन किस उद्देश्य से हुआ, यह एक गवेषणात्मक विषय है। समय-समय पर विद्वानों ने यज्ञ की परिभाषाएँ की हैं। कोई उसे जादू-टोना कहता है, तो कोई उसकी 'लो और दो' के सिद्धान्त से तुलना करता है। कुछ इसे उपकार देना मात्र समझते हैं, तो कोई इसे देवताओं को खुश करने का साधन समझते हैं। वास्तविकता यह है कि यज्ञ को किसी परिभाषा में बाँधा नहीं जा सकता। उसको समझने के लिए उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं पर ध्यान देना जरूरी है।

ऋग्वेद में यह कहा गया है कि देवताओं ने यज्ञ से यज्ञ किया - **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः;** यज्ञ कहीं प्रथम धार्मिक कर्म थे - **तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।** ब्राह्मणों में शतशः यह वर्णन आता है कि देवताओं ने अमुक यज्ञ किया, उसी को मनुष्यों ने किया। ब्रह्माण्ड में भी यज्ञ हो रहा है। भौतिक यज्ञ इसी की प्रतिमूर्ति है। ब्रह्माण्ड में जो यज्ञ हो रहा है, वह परोपकारार्थ है। यज्ञ को परमात्मा का स्वरूप समझा गया, जिससे संसार की उत्पत्ति मानी गयी। इस प्रकार वैदिक आर्यों ने यज्ञरूप प्रभु की, जिसने संसार के हेतु अपनी आहुति दे दी, यज्ञ के माध्यम से ही आराधना करना श्रेय समझा। यज्ञ का इसलिये सबसे प्रधान गुण त्याग है, जिसके बिना अन्य अङ्ग अधूरे ही कहे जा सकते हैं। यज्ञ शब्द **'यज्'** धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- दान देना, पूजा करना और सङ्गति करना। ये तीनों तभी फलीभूत हो सकते हैं, जबकि याज्ञिक में त्याग की भावना विद्यमान हो। निःस्वार्थ भावना से ही यजमान दान दे सकता है, दूसरों का सहयोग कर सकता है और प्रभु की आराधना कर सकता है। इस प्रकार स्वार्थ-त्याग और परहित-सेवा यज्ञ का प्रमुख उद्देश्य है। यही प्रभु की पूजा का सच्चा माध्यम है। जिस प्रकार सृष्टि का सृजन करते समय आदिपुरुष ने अपनी आहुति देकर संसार की प्रत्येक चीज़ बनाई और अपने को विकसित किया, बढ़ाया, उसी प्रकार मनुष्य भी निःस्वार्थ भावना से प्राणियों की सेवा करता हुआ आत्म-विकास कर सकता है और इस भूतल को सुख-स्थली बना सकता है। इससे बढ़कर कोई पूजा नहीं हो सकती। इसी भावना को दृष्टि में रखकर यजुर्वेद में कहा गया कि आयु, प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र और यह सारा जीवन यज्ञ के लिए समर्पित हो। यथा -

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽ अगन्मामृताऽअभूम॥ (यजु0 9/21)

यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। यज्ञ करना आर्यों का परम कर्त्तव्य है, जिसके द्वारा देवताओं के ऋण से मुक्त होना माना गया। यज्ञ उपासना का माध्यम बन गया और जो उसमें विश्वास नहीं करता था, उसे अनार्य, दास, राक्षस, अदेवयु आदि की संज्ञा दी गयी। उसे नास्तिक और वेद-निन्दक समझा गया। वैदिकधर्म आस्तिकतावादी है। इसमें आराधना के दो स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम तो हमें वे भोली-भाली स्तुतियाँ मिलती हैं, जिनके द्वारा वैदिक आर्य अकेले में या समूह में खुले स्थान

पर बैठकर सृष्टि के नियन्ता की पूजा करते थे। दूसरा पूजा का ढंग हमें यह यज्ञ-स्थली दिखायी देती है, जहाँ लोग बैठकर प्रज्वलित अग्नि में आहुति डालकर स्तुतियों से उस परमपिता परमात्मा की आराधना करते थे। प्रथम प्रकार की आराधना से जहाँ केवल देवी-देवता ही प्रसन्न होते थे और विभिन्न प्रकार के लौकिक पदार्थों की कामना की जाती थी, वहाँ यज्ञरूपी आराधना से इसके अतिरिक्त कई अन्य लाभ भी होते थे। इससे यजमान को तो लाभ होता ही था, परन्तु इससे बढ़कर यज्ञ न करने वालों को भी लाभ होता था। यज्ञ से उठे हुए पवित्र धुएं से वातावरण में पवित्रता का संचार होता था। भयङ्कर बीमारियां दूर होती थीं, और वर्षा समय पर होती थी। इससे यजमान के हृदय में पवित्रता और त्याग, श्रद्धा और दान देने की भावना पैदा होती थी, जिनको आराधना का मूलसूत्र कहा जा सकता है। इस प्रकार यज्ञ का आरम्भ ईश्वर-आराधना की भावना से हुआ, जो अन्तः और बाह्य दोनों प्रकार से श्रेय देने वाला था।

यज्ञ करते समय अग्नि में भिन्न-भिन्न प्रकार की आहुतियाँ डाली जाती हैं। यह एक भौतिक यज्ञ है। इसके बाह्य उपयोग तो स्वतः सिद्ध है, लेकिन इसके वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब इसकी प्रत्येक क्रिया सोच-समझकर की जाय। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जितने भी यज्ञ हैं, उनका भौतिक स्वरूप होते हुए भी उनका आध्यात्मिक महत्त्व अधिक है। इस प्रकार भौतिक और आध्यात्मिक इन दोनों पक्षों का ध्यान में रखकर यज्ञ करना उचित और फलप्रद समझा गया है। जब आध्यात्मिक भावना लुप्त हो जाती है और यज्ञ के बाहरी रूप पर अधिक जोर दिया जाता है, तो यज्ञ एक आडम्बर बनकर रह जाता है, जो अन्त में आलोचना का भाजन होता है। आन्तरिक भावना से यज्ञ न करके केवल भौतिक अग्नि में आहुति देना निकृष्ट समझा गया है, इससे आत्मा का विकास नहीं हो सकता। यज्ञ इस रूप में लेन-देन के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जिसमें स्वार्थ की भावना भरी रहती है। ब्राह्मण-साहित्य में बार-बार भौतिक यज्ञ के साथ आध्यात्मिक यज्ञ पर भी प्रकाश डाला गया है। उदाहरणतया तीन प्रकार की अग्नियाँ (आहवनीय+गार्हपत्य+दक्षिणाग्नि) मनुष्य के हृदय में ही बताई गयी हैं और उनमें ही आहुति देना सच्चा यज्ञ करना बताया है। अग्निहोत्र को सामग्री के अभाव में भी किया जा सकता है, ऐसा याज्ञवल्क्य का मत है। ऐसे अग्निहोत्र से अग्निहोत्री सूर्य के समान तेज वाला हो जाता है। उसके सारे पाप मिट जाते हैं; जिस प्रकार अन्धकाररूपी गर्भ में से प्रातःकाल सूर्य आ उपस्थित होता है, उसी प्रकार अग्निहोत्री भी अपने सभी पापों से उसी प्रकार विमुक्त हो जाता है, जैसे केंचुली सर्प से विमुक्त हो जाती है।

अन्त में कह सकते हैं कि यज्ञ को किसी परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता। उसके तात्पर्य को समझने के लिए उसके आदर्शों पर ध्यान देना जरूरी है। यज्ञ की प्रत्येक क्रिया जीवन से जुड़ी हुई है। यज्ञ आराधना का माध्यम है, जो वैयक्तिक और सामाजिक अभ्युदय का भी साधन है। ❐

नास्तिकता का कारण ?

वैद्य रामकृष्ण
रुद्रपुर (उत्तराखण्ड)

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ (यजु0 40/1)

मनुष्य समुदाय आज परमात्मा से विमुख होता जा रहा है। जो अन्य सम्प्रदाय वाले परमात्मा को मानते हैं, वे अशुद्ध रूप में मान रहे हैं। मुसलमानों के अनुसार ख़ुदा सातवें आसमान पर एक तख़्त वा आसन पर बैठा है; यद्यपि मुसलमान लोग ख़ुदा को निराकार मानते हैं, और यहाँ उसे शरीरधारी भी बना दिया। ईसाई लोग चौथे आसमान पर परमात्मा को मानते हैं, और पौराणिक भाई कैलाश पर्वत पर या क्षीरसागर में या स्वर्ग में बैठा हुआ मानते हैं। अर्थात् साकार मानते हैं और संसार से अलग बिठाते हैं। ऐसी दशा में जगत् की व्यवस्था कौन करेगा ? मनुष्य में एक गुण अल्पज्ञता का है। जब ईश्वर शरीरधारी अर्थात् मनुष्य की भाँति बनेगा, तो उसमें मनुष्यता के गुण जैसे अल्पज्ञता आदि आ जायेंगे, तब संसार के पापों या शुभ कर्मों का दृष्टा कैसे बनेगा; चूंकि वह एक स्थानीय है ? परमात्मा को हम यह कह देते हैं कि हम जो कुछ करते हैं, वह भगवान् ही कराता है, हम कुछ नहीं करते। और जब कोई अच्छा काम कर लें या जो तारीफ़ के काबिल है, तब कहते हैं कि यह शुभ और बृहत् कार्य मैंने किया है। पाप करते हैं और बदनामी होती है, तो परमात्मा के सिर मढ़ देते हैं कि उस प्रभु ने कराया। अर्थात् पाप में परमात्मा को शरीक़ कर लेते हैं, तो फिर वह परमात्मा जो खुद पाप में शामिल है, वह सज़ा देने वाला कैसे हो सकता है ?

एक राजा जिसने अपने महल की रखवाली के लिये एक चौकीदार रखा है, उसी ने चौकीदार को आज्ञा दे दी कि इस महल को आग लगा दो और जब महल जल जाये, तब चौकीदार को पकड़कर कोड़े लगाओ और उसे जेल में बन्द कर दो। यह उसका न्याय कैसे हो सकता है? यही नास्तिकता का बड़ा भारी कारण है। परमात्मा ने आप ही इस वेदमन्त्र में बताया है कि – यदि तुम मुझे संसार में ढूँढ़ना चाहते हो, तो मुझे संसार की वस्तु के बीच में देखो। मैं मौजूद हूँ, लेकिन साकार नहीं हूँ। मुझे बाहरी आँखों से मत देखो। जैसे वायु सब जगह मौजूद है, लेकिन शक्ल वाली नहीं, सब प्राणी इस हवा से जीते हैं। अगर हवा एक ही जगह पर रख दी जाय, तो सारा संसार मर जायेगा। माली अगर बाग़ में मौजूद रहे तो बग़ीचा फलता-फूलता है; ऐसे ही परमात्मा सब संसार में रहे तो संसार अपने नियमानुसार चल सकता है। इसलिये वेद ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में निराकार भगवान् को मानने का सन्देश दिया है। आत्मा के अन्दर परमात्मा इतना ही नज़दीक रहता है। शरीर की बेरूनी आँखें अपने आत्मा को और आत्मा परमात्मा को नहीं देख

सकतीं। जबकि मेरी आत्मा है और निराकार है, तो परमात्मा को निराकार मानने में क्यों इन्कार करता है और उसको साकार बनाकर पूजता है ? यही मूर्खता तथा नास्तिकता है। वेदज्ञ विद्वान् इस रहस्य को जानते हुए अपनी अन्तरात्मा से स्वयं आत्मा का, फिर परमात्मा का दर्शन करते हैं। तभी वेदों ने कहा है कि मुझे बाहरी आँख से मत देख, मुझे ज्ञानचक्षु से देख, तो मैं सब जगह मौजूद हूँ।

दूसरे मन्त्र के आधे हिस्से में उपदेश दिया है कि – 'हे मनुष्यो ! जो कुछ संसार के अन्दर बनाया है, वह तुम्हारे लिये ही है। तुम्हें सुख देने के लिये ही बनाया है। **'भुञ्जीथा'** भोग करो, व्यवहार में लाओ, इस्तेमाल करो, सत्य–धर्म–ज्ञान द्वारा सब चीज़ों से सुख प्राप्त करो।'

'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' संसार में मेरे पदार्थों की चोरी मत करो, अपनी मिल्कियत मत बनाओ। लोभ और ममत्त्व के वशीभूत होकर मेरे पदार्थों में फंस मत जाओ। मनुष्यो ! तुम इससे मुझे भी पा लोगे और संसार में भी सुख प्राप्त कर लोगे। अगर मेरी आज्ञाओं के विरुद्ध आचरण करोगे, तो न मैं मिल सकता हूँ, न सांसारिक सुख मिल सकता है। यही कारण है कि परमात्मा के सच्चे स्वरूप को न समझकर संसार दुःखी हो रहा है। आज हम परमात्मा से जितनी दूर जा रहे हैं, उतने संसार में दुष्कर्म बढ़ते जा रहे हैं। यही महान् आपत्ति व नाश का कारण बन रहे हैं।

वेद की आज्ञाओं पर चलना, हमारा ध्येय होना चाहिये। परमात्मा सुबुद्धि प्रदान करे कि संसार आस्तिकता की तरफ कदम बढ़ावें, तभी संसार का कल्याण हो सकता है। ❐

* कानाफूंसी *

स्वामी कृष्णानन्द

जो आप हैं, उसे आपका चरित्र कहेंगे और लोग जो आपको समझते हैं, उसे आपकी ख्याति।

दो आदमी एक व्यक्ति के बारे में अपनी अलग–अलग राय रखते हैं, अतः एक व्यक्ति वह सबकुछ तो हो ही नहीं सकता, जो लोग उसके बारे में कहते हैं। चरित्र का निर्माण स्वयं मनुष्य करता है, ख्याति लोगों को उस कानाफूंसी रूप गेंद पर आधारित होती है, जिस पर लोग ठोकरें लगाकर इधर से उधर लुढ़काते रहते हैं। कानाफूंसी के विषय अधिकतर बेबुनियाद, विकृत और बढ़ाये हुए होते हैं।

आज जानते हैं कि कानाफूंसी को कानून भी बन्द नहीं कर सकता। वह चलती ही रहती है, पर इसे चलाने का काम अपाहिज़ ही करते हैं। स्वस्थ मस्तिष्क के व्यक्ति इधर–उधर की कहानियाँ कहने–सुनने में नहीं पड़ते। यदि वे कहानियाँ सच्ची भी हों, तो भी इस तरह समय नष्ट करना उन्हें कैसे सह्य हो सकता है ?

लोगों की बुराई करते फिरने वालों और बुरे काम करने वालों में कोई अन्तर नहीं है; दोनों ही असम्मान का अर्जन करते हैं। यदि कोई व्यक्ति आपके सामने दूसरे की बुराई करता है, तो आप निश्चित समझ लें कि वह आपकी बुराई भी दूसरे से करेगा। ये वह लोग हैं, जो निर्माण नहीं, नष्ट करने का काम कर सकते हैं।

कानाफूंसी करने वाले व्यक्ति अपने को ही अधिक नुकसान पहुँचाते हैं। यह सम्भव नहीं कि आप दूसरे पर कीचड़ उछालें और आपके हाथ मैले न हों। इधर–उधर के किस्सों पर विश्वास करना, अपनी हीनता प्रकट करना है।

दूसरों के मनोभाव आप अधिक से अधिक सहृदय होकर ही जान सकते हैं। ❐

अनावृष्टि और यज्ञ

सुधीर कुमार गुप्त
गोपालपुरा, जयपुर (राजस्थान)

अपना देश अनावृष्टि और अतिवृष्टि दोनों से ही पीड़ित है। अतिवृष्टि के निवारण के लिये तो सम्भवतः कोई धार्मिक कृत्य नहीं किये जाते हैं, अनावृष्टि के लिये अनेकों उपायों का आश्रय लिया जाता है। पिछले दिनों कई स्थानों पर शिवलिङ्ग के दुग्ध-स्नान, यज्ञ, प्रार्थनाओं और रामायण आदि पाठों का आयोजन किया गया। भावना और यथार्थ दिशा में कर्म के क्षेत्र और फल अलग-अलग होते हैं। अनावृष्टि और अतिवृष्टि के निवारण के लिये यथार्थ दिशा में कर्म अपेक्षित हैं। शिवलिङ्ग अग्निरूप रुद्र का भी पौराणिक लौकिक रूप है। अतः इसका दुग्ध-स्नान अग्नि में दुग्ध के होम की भावनात्मक अभिव्यक्ति-मात्र है। जल का निर्माण हाईड्रोजन और ऑक्सीजन गैसों के दो और एक के अनुपात मिश्रण से सम्पन्न होता है, और बादल रूप में वाष्पीभूत जल को शीतलता पहुँचाने की शक्ति भी उत्पन्न होती हो, तो यह विधि उपयुक्त और अभिनन्दनीय है, अन्यथा अनावृष्टि निवारणार्थ यह विधि अनुपयुक्त मानी जायेगी। यही स्थिति दूध की अग्नि में आहुति देने की है।

* यज्ञों में जो पदार्थ डाले जाते हैं, उनमें वृष्टिकारक और वृष्टिनिरोधक दोनों ही प्रकार के पदार्थ होते हैं। अतः यदि बिना सोचे-विचारे यज्ञ में आहुत पदार्थों में वृष्टिनिरोधक पदार्थों की अधिकता हो जाय, तो अभीष्ट फल से विपरीत फल प्राप्त होना अनिवार्य है। अतः यज्ञ में प्रयुक्त समस्त पदार्थों, समिधा, घी, दुग्ध, पुरोडाश आदि सब कुछ का वैज्ञानिक परीक्षण और विश्लेषण कर, उपयुक्त पदार्थों के आवश्यक मात्रा में प्रयोग से ही वृष्टि की उत्पत्ति अथवा निवृत्ति जो भी अभीष्ट हो, सम्पन्न की जा सकती है, अन्यथा नहीं।

जिस प्रकार होम्योपैथी की सूक्ष्म औषधि उन सब लक्षणों की नाशक होती है, जिन्हें वह स्थूल मात्रा में लेने पर उत्पन्न करती है, वैसे ही अल्पमात्रा में आहुत पदार्थ अनभीष्ट परिणाम वाले बन सकते हैं। इन्दौर निवासी स्व0 पण्डित वीरसेन वेदश्रमी जी ने इस दिशा में जो परीक्षण और अनुभव प्राप्त करके दर्शाया व लिखा है, उनसे भी यथोचित लाभ उठाया जा सकता है। **'यज्ञ'** शीर्षक से अंग्रेजी में उन्होंने एक पुस्तक प्रकाशित की थी, उसका भी अवलोकन किया जा सकता है। जनतादल के शासन काल में एतद्विषयक शोध की एक योजना पर भारत सरकार ने विचार प्रारम्भ किया था, उसे पुनः अधिगृहीत किया जाना चाहिये। देशहित दलीय और साम्प्रदायिक मतभेदों ने ऊपर होता है। कृत्रिम वर्षा के लिये अब तक

अनेकों परीक्षण हुए हैं। उनका परिष्कार और प्रयोग कर, बादलों की उत्पत्ति और उन्हें सगर्भ बनाने के प्रयास भी करने चाहिये।

* प्रार्थनाओं का फल कर्माधीन है। यदि प्रार्थना की निष्पत्ति के लिए जैसे ऊपर बताये गये हैं, उस प्रकार के एवं अन्य आवश्यक कर्म नहीं किये जायेंगे, तो उनसे कोई भी अभीष्ट फल प्राप्त नहीं होगा। शब्द का भी बादलों के निर्माणादि में योग हो सकता है, परन्तु इसका कोई वैज्ञानिक विश्लेषण और परीक्षण ज्ञात नहीं है। गौओं आदि पर सङ्गीत के प्रभाव को बताने वाले समाचार तो पढ़ने में आये हैं। प्रकृति पर विशेषतः जल-वायु और उष्मा या सूर्य पर नहीं, तो भी इच्छानुसार फल के लिए प्रार्थना उपयुक्त राग आदि में अनिवार्य है। यह ध्यान नहीं रखा जाता, अतः फल भी वैसा ही मिलता है।

* मनुष्य, जगत् में अपने कर्मों का फल भोगता है। देश में अनाचार, दुष्कर्म और हत्याओं आदि का साम्राज्य है। प्रश्नों के आलोक में तो हम देश के चरित्र, रक्षा, सुख और समृद्धि के विघातक बनते जा रहे हैं। कर्मवाद के अनुसार हमें इन कर्मों के फल, जिनमें अनावृष्टि और अतिवृष्टि भी हैं, अवश्य ही भोगने पड़ेंगे। अतः देश के प्रत्येक विचारशील नागरिक, धर्म और राजनीति के प्रबुद्ध नेताओं का नैतिक कर्त्तव्य है कि इस धारा में चिन्तन कर, जनता को नैतिक नियमों का अनुगामी बनायें और वर्षा के उत्पादन और निवारण हेतु, यदि उचित प्रतीत हों तो उपयुक्त धाराओं में कार्य किये जायें। सम्भवतः इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्र विभाग के भूतपूर्व प्रभाषक स्व0 स्वामी डा0 सत्यप्रकाश जी की पुस्तक **'अग्निहोत्र'** का अवलोकन इस दिशा में कार्य करने के लिए कुछ धाराएं इंगित कर सकता है। ❐

स्वर्णिम-युग निर्माण

आचार्य रामकिशोर

आज समय आ गया सजग हो, स्वर्णिम युग निर्माण करें हम।
भौतिक चकाचोंध में चञ्चल, इस युग का निर्माण करें हम॥

इस भौतिकतता की दल-दल में, फंसकर विकल हुआ है मानव।
मानव की आकृति में तो, प्रतिदिन बढ़ते जाते दानव।
भोगों की बढ़ती प्रवृत्ति का, हेतुभूत अज्ञान हरें हम॥
आज समय आ गया ... ॥1॥

इसी भयानकतम प्रवृत्ति से, पूंजीवाद बढ़ा करता है।
शोषण, द्वेष, स्वार्थ, अब हत्या, गिरि पर पुरुष चढ़ा करता है।
ऊपर से नीचे गिरने के, फल का भी अनुमान करें हम॥
आज समय आ गया ... ॥2॥

पश्चिम की सभ्यता यहाँ पर, लेकर आयी है ये दुर्गुण।
राष्ट्रभक्ति, सभ्यता, संस्कृति, सबसे विमुख हुआ है जनगण।
इस घातक दूषित प्रवृत्ति से, प्रिय स्वदेश का त्राण करें हम॥
आज समय आ गया ... ॥3॥

परहित का उद्देश्य बताकर, किया जा रहा है यहाँ पर छल।
फिर स्वदेश खण्डित करने को, आज हो रहे सक्रिय अरिदल।
इस दुर्दान्त षडयन्त्र पाश का, यथाशीघ्र अवसान करें हम॥
आज समय आ गया ... ॥4॥

जिसके द्वारा सकल विश्व के, गुरु बनने का अवसर पाया।
जिसकी शिक्षा के प्रताप से, सफल हुई नहीं हम पर माया।
उस ईश्वरीय कृपा से अधिगत, ज्ञानराशि का मान करें हम॥
आज समय आ गया ... ॥5॥

सदा रहा सृष्टि के समय से, जगतीभर पर अपना शासन।
पाँच हजार वर्ष से पहले, तक सभी मानते थे अनुशासन।
आओ अपने अतीत के गौरव, का फिर से अभिमान करें हम॥
आज समय आ गया ... ॥6॥

प्राणिमात्र के हित साधन की, जिससे विकसित करे भावना।
कभी पनपने ही नहीं पावे, मन में जिससे कुटिल कामना।
उस अपनी वैदिक-संस्कृति की, फिर से नव पहचान करें हम॥
आज समय आ गया ... ॥7॥

संन्यास केवल ब्राह्मण ही ले सकता है

स्व0 उत्तमचन्द 'शरर'
पानीपत, (हरियाणा)

संन्यासाश्रम की महत्ता आज के गये-गुज़रे युग में भी सर्वमान्य है। संन्यासी वेशभूषा तक किसी साधारण व्यक्ति को नतमस्तक कर देने को पर्याप्त है। परन्तु यह भी सत्य है कि हर मूल्यवान् वस्तु की नक़ल स्वभावतः प्रारम्भ हो जाती है। संन्यास में भी मिलावट प्रारम्भ हो गयी और हर व्यक्ति ने समाज में ऊँचा स्थान पाने के लिये संन्यासाश्रम में प्रवेश की दीक्षा लेनी प्रारम्भ कर दी; परिणामतः आज आर्यजाति में लाखों काषाय वस्त्रधारी **'साधु'** नाम से कहलवाने वाले महानुभाव मिलते हैं, जो देश-जाति के लिए भार-स्वरूप हैं।

संन्यास लेने की बुनियादी शर्त है - **तीव्र वैराग्य।** यह वैराग्य ब्राह्मण वर्ण में साधना के पथ पर चलते साधक को प्राप्त होता है। वैसे क्षणिक-वैराग्य तो प्रायः किसी भी आश्रम में घटनाक्रम से व्यक्ति को हो जाता है, परन्तु स्थायी रूप से विरक्ति ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति ही कर सकता है। ध्यान रहे कि ब्राह्मण से अभिप्राय हमारा जन्म के ब्राह्मण से न होकर गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण वृत्ति वाले व्यक्ति से है। वह ऋषि दयानन्द के शब्दों में पूर्ण विद्या और उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त होने से मनुष्य जाति में उत्तम ब्राह्मण कहाता है। (देखें - सत्यार्थप्रकाश) विरक्त व्यक्ति संसार के पदार्थों की नश्वरता का साक्षात् कर चुका होता है। इसलिये उसे धन बटोरने की इच्छा, सांसारिक सम्मान प्राप्ति की लालसा, पुत्रादि का मोह नहीं सताता। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी **'सत्यार्थप्रकाश'** में **'शतपथ-ब्राह्मण'** के प्रमाण द्वारा उसका वर्णन इस प्रकार से करते हैं -

लोकैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च, पुत्रैषणायाश्चोत्थायाथ भैक्षचर्यं चरन्ति ॥

(शत0 14/6/4/1)

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ, धन से भोग वा मान्य, पुत्रादि के मोह से अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होके रात-दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं। सांसारिक लालसाओं का परित्याग, निरन्तर की साधना तथा शुभ कर्मों के फलस्वरूप सम्भव है। हमने निवेदन किया कि इस प्रकार की साधना और लक्ष्य केवल ब्राह्मण वर्ण में सम्भव है; क्योंकि ब्राह्मण के लिये उपयुक्त है कि वह उस मानसिकता को प्राप्त करे, जिसमें सम्मान तक प्राप्त करने की इच्छा न रहे। मनु के शब्दों में -

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥

(मनु0 2/162)

ब्राह्मण सम्मान से इस प्रकार दूर भागे, जैसे व्यक्ति विष से भागता है। साथ ही अपमान

को अमृत के तुल्य जानकर सेवन करे। ऐसा व्यक्ति संन्यास का अधिकारी है। ऋषि ने इसीलिये अपने अमरग्रन्थ **'सत्यार्थप्रकाश'** के पांचवें समुल्लास में लिखा है –

प्रश्न – संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण का ही धर्म है वा क्षत्रियादि का भी ?

उत्तर – ब्राह्मण को ही अधिकार है; क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकार-प्रिय मनुष्य है, उसी का ब्राह्मण नाम है। बिना पूर्ण विद्या, धर्म, परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता।

संन्यासी का सब आश्रमों में विशेष सम्मान होता है, परन्तु वह सम्मान से दूर भागता है। उसके चरणों में लक्ष्मी लोट-पोट हो जाती है, परन्तु वह वित्त की कामना त्याग चुका है, और दयानन्द के समान उदयपुर के राजा से कहता है –

किसी दुनिया के कुत्ते को ही पालो,
ज़र के टुकड़ों पर। न बांधो हम फक़ीरों
को, मगर जंजीर से ज़र की ॥

पुत्रैषणा से भी वह मुक्त है। उसके लिये सारा संसार अपना कुटुम्ब है, अतः अब उसमें क्रोधादि विकारों के लिये कोई स्थान नहीं। अमर-ग्रन्थ **'सत्यार्थप्रकाश'** में ऋषि ने मनुजी के प्रमाण से संन्यासी के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है –

क्रुद्धचन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टःकुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥

(मनु0 6/48)

'जब कहीं उपदेश या संवाद आदि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे, तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे, किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे। और एक मुख के, दो नासिका के, दो आँख के और दो कानों के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले।

अब आप विचार करें कि – भला, ऐसा व्यक्ति सर्वपूज्य क्यों न होगा, जो अपने हत्यारे का भी ऋषि के समान हित-चिन्तक हो ?

आर्यसमाज में ऋषि के पश्चात् ऐसे कई वीतराग संन्यासी हुए हैं, जिनका जीवन आज भी नेत्रों के सम्मुख चमककर नव-प्रेरणा देता है। स्वामी श्रद्धानन्द जी, स्वामी दर्शनानन्द जी के तो दर्शन हम नहीं कर पाये; परन्तु वीतराग स्वतन्त्रतानन्द के दर्शनों का सौभाग्य तो प्राप्त हुआ है। वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी को कौन नहीं जानता, जिन्होंने अपना जीवन वैदिकधर्म की सेवा में लगाकर **'साधु-आश्रम'** जैसे गुरुकुल की स्थापना की, जिसमें अनेकों वैदिकधर्मी विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ। कर्मठता में सार्वदेशिक सभा के प्रधान महात्मा नारायण स्वामी का भी जवाब नहीं था। योग-साधना में स्वामी आत्मानन्द जी आज भी अपने शान्त-स्वरूप से नेत्रों के सम्मुख हैं।

आवश्यकता है आज भी समाज में ऐसे वीतराग, कर्मठ तथा शान्त-प्रकृति के संन्यासियों की, जो देश और जाति का पथ-प्रदर्शन कर सकें। जाति की नौका आज फिर भंवर में है, और किसी कुशल खेवट की प्रतीक्षा है। ❐

अत्युत्तम कौन ?

तारा शर्मा
प्रधाना - धर्म संवर्द्धिनी सभा

एक नगर में रामप्रसाद नामक एक मनुष्य रहा करता था। रामप्रसाद ने अपने माता-पिता के संस्कारों से प्रभावित होकर जीवन में अनेकों ऐसे कार्य किये, जिनके कारण समाज में रामप्रसाद को अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। रामप्रसाद का एक छोटा-सा व्यापार था, जिसको रामप्रसाद बड़े मनोयोग के साथ करता है। ईश्वर-विश्वासी, चरित्रवान्, ईमानदार, परिश्रमी रामप्रसाद पिछले 50 वर्षों के कार्यकाल में समाज का एक प्रतिष्ठत सदस्य बन चुका था। उसके तीन पुत्र थे - सोहन, मोहन एवं सत्यदेव। रामप्रसाद अपने व्यापारादि का कार्य करते हुए अपने बच्चों के भविष्य को श्रेष्ठ बनाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित पुस्तकों को पढ़ने के लिए दिया करता था। उसकी इच्छा थी कि मेरे बच्चों का चारित्रिक विकास इस प्रकार से हो, जिससे वे मेरी प्रतिष्ठा और व्यापार को किसी भी प्रकार की क्षति से बचाकर, उसको अपने परिश्रम से और अधिक समुन्नत करें।

जब रामप्रसाद की उम्र वृद्धावस्था का स्पर्श करने लगी, तो उसने अपने कारोबार का उत्तरदायित्त्व उस बेटे को देने का विचार निश्चित किया, जो उसकी कसौटी पर खरा उतर सके। इस परीक्षा के लिए रामप्रसाद ने अपने बड़े पुत्र को बुलाकर कहा - 'बेटा ! मैं अपना समस्त उत्तरदायित्त्व उस पुत्र को सौंपना चाहता हूँ, जो सबसे योग्य हो और जिसकी किसी श्रेष्ठ कार्य में रुचि हो। इसलिये आप मुझे कोई ऐसा प्रमाण दें, जिससे मुझे यह प्रतीत हो सके कि यह मेरा बेटा सबसे अधिक अच्छा है, और मुझे अपना उत्तराधिकार इस बच्चे को सौंप देना चाहिये।'

पिता की बात सुनकर सोहन ने कहा - 'पिता जी ! आपको मेरे से अच्छा और कोई बेटा नहीं मिलेगा। क्योंकि मेरे एक मित्र ने दस लाख रुपये मेरे पास कुछ समय के लिए रख दिये थे। दो महीने बाद जब वह रुपये मांगने आया तो मैंने ईमानदारी से पूरी तरह वापस कर दिये। यदि चाहता तो मैं उसको रुपये न देता।'

पिता ने कहा - 'बेटा ! कार्य तो तुमने अच्छा किया कि अपने मित्र की दस लाख की रकम वापस कर दी। पर इस कार्य में मुझे कोई श्रेष्ठता दिखाई नहीं पड़ती। क्योंकि ये कार्य तुमने मित्रता के व्यवहार के कारण किया है। मैं तो चाहता ही यही हूँ कि मेरे संस्कारी बच्चे कोई अनुचित कार्य न करें। पर इस श्रेष्ठता की जांच करने के लिए मैं तुम्हारे दोनों भाईयों से भी पूछ लूँ। यदि मैं समझूँगा कि तुम्हारा व्यवहार अति-उत्तम है, तो मैं अपना उत्तरदायित्त्व तुम्हें सौंप दूँगा।'

कुछ समय के बाद रामप्रसाद ने अपने दूसरे पुत्र मोहन को बुलाया, और कहा – 'बेटा मोहन ! मैं अपना समस्त उत्तरदायित्त्व अपने उस बेटे को सौंपना चाहता हूँ, जिसके अन्दर श्रेष्ठ कार्य करने का जज्वा हो। यदि तुमने जीवन में कोई श्रेष्ठ कार्य किया हो, तो तुम मुझे बतला सकते हो, मैं उस पर विचार करने के पश्चात् निर्णय करूँगा।' पिता की बात सुनकर मोहन ने कहा – 'हाँ, पिताजी ! मैंने पिछले सप्ताह एक बच्चे को पानी में डूबने से बचाया। यदि मैं उस समय उस बच्चे की सहायता न करता, तो निश्चित ही वह पानी में डूबकर मर जाता। मैंने अपने जीवन की परवाह न करके उसके जीवन को बचाया, यह मेरे जीवन का सर्वश्रेष्ठ कार्य है।' पिता ने अपने पुत्र मोहन की बात सुनकर कहा – 'बेटा ! तुम ठीक कहते हो, यदि तुम उसके जीवन को न बचाते, तो शायद वह मर गया होता। पर ऐसी बहादुरी तो संसार में अनेकों लोग करते हैं। मैं चाहता हूँ कि मेरा वह पुत्र उत्तराधिकारी बने, तो सर्वश्रेष्ठ हो। अच्छा, इसका निर्णय मैं तुम्हें कुछ समय बाद बताऊँगा।'

कुछ समय के बाद रामप्रसाद ने तीसरे बेटे सत्यदेव को अपने पास बुलाया और अपने उत्तराधिकार सौंपने के सम्बन्ध में समस्त बातें उसे बताते हुए कहा – 'बेटा ! यदि तुमने जीवन में कोई अतिश्रेष्ठ काम किया हो, तो तुम मुझे बतला सकते हो।' पिता की बात सुनकर सत्यदेव ने कहा – 'पिताजी ! आपकी जिसको उत्तराधिकार सौंपने की इच्छा हो, आप वैसा करिये। मुझे तो बस आपका आशीर्वाद चाहिये। मेरी कामना है कि मैं सदैव आपके आदेश का पालन करता रहूँ। आप जिस कार्य का आदेश दें, मैं उस कार्य को सदैव करता रहूँ। आपकी सेवा करने का मुझे प्रभु जो अवसर दे, उसे मैं तन्मयता के साथ पूरा करने में समर्थ हो सकूँ। मैं आज जो कुछ हूँ, आपके कारण ही हूँ, इसलिये मुझे आपका आशीर्वाद ही पर्याप्त है, शेष मेरी कोई अन्य इच्छा नहीं।'

सबसे छोटे पुत्र सत्यदेव की बात सुनकर रामप्रसाद का हृदय आनन्द से भर गया। कुछ विचार करने के बाद वे बोले – 'बेटा सत्यदेव ! तुमने अपने विचारों से मेरे हृदय में ऐसा स्थान बना लिया कि तुम उम्र में छोटे होने पर भी विचारों में अत्यन्त श्रेष्ठ हो। धन से बड़ा होना कोई अधिक बड़ी बात नहीं। बड़ा वही है जो प्रभु की कृपा, बड़ों का आशीर्वाद और अपने बराबर वालों की शुभकामनायें प्राप्त करता रहता हो। जिसका जीवन माता-पिता-गुरुजनों की सेवा में संलग्न रहता हो, वह सन्तान ही सौभाग्यशाली नहीं है, अपितु वो माता-पिता-गुरुजन भी सौभाग्यशाली हैं, जिन्हें ऐसी सन्तान प्रभुकृपा से प्राप्त हुई है। वत्स ! मेरी इच्छा है कि तुम मेरे उत्तराधिकार को प्राप्त कर, अपने पुरुषार्थ से उसकी वृद्धि कर, अपने भाईयों का सहयोग करते हुए मेरे इस व्यापार का संवर्द्धन कर, सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करो। तुम सदैव प्रयास करो कि बड़ों की सेवा, उनका आज्ञापालन कर, समाज व राष्ट्र की सेवा में अधिक से अधिक अपना समय व्यतीत करो। यदि तुमने ऐसा किया, तो निश्चित ही तुम सदैव सुखी रहोगे। ❑

ऋषि-जीवन की कुछ अप्रकाशित घटनाएं

राजेन्द्र जिज्ञासु
वेद सदन, अबोहर

आर्य-सन्तान सदैव कृतज्ञ हृदय से रक्त-साक्षी पं0 लेखराम जी को श्रद्धा से स्मरण करती रहेगी, जिन्होंने महर्षि दयानन्द जी महाराज का एक अद्‌भुत जीवन-चरित्र तैयार किया था। यदि वह कुछ देर और जीवित रहते तो निश्चय ही इसकी भूमिका में महर्षि के व्यक्तित्त्व व उपलब्धियों पर अत्यन्त खोजपूर्ण और मौलिक सामग्री देते। न जाने उनके मस्तिष्क में और क्या-क्या था, जो वह ग्रन्थ की समाप्ति पर देते। प्रत्येक ऋषि-भक्त को वर्ष में एक बार तो इस अद्वितीय ग्रन्थ का पाठ करना ही चाहिये। अन्य प्रकाशित जीवन-चरित्रों के आधार पर हम ऋषि-जीवनी पर कितने ही ग्रन्थ क्यों न रच लें, परन्तु इस ग्रन्थ का महत्त्व इतिहासज्ञों की दृष्टि में अद्वितीय ही रहेगा।

ऋषि-जीवन की कुछ सामग्री और मिल सकती है, यदि आर्य-विद्वानों की नई पीढ़ी 'आर्य-गज़ट, आर्य-समाचार, सद्धर्म-प्रचारक, मुहर्रर, शुभ-चिन्तक, प्रकाश' आदि पुराने पत्रों के ऋषि-अङ्कों में यदा-कदा ऐसे आर्यसमाजी व गैर आर्यसमाजी पुरुषों के लेख व संस्मरण छपते रहे हैं, जिन्होंने ऋषि-दर्शन किये थे। **'आर्य मित्र'** की पुरानी फाइलें तो सुरक्षित होंगी ही। कुछ पुराने पुरुषों के ट्रैक्ट खोजे जावें, तो उनसे भी कुछ घटनाएं मिल सकती हैं।

ऐसी कई घटनाएं समय-समय पर मेरे सामने आयी हैं। मैं उनको नोट न कर सका, तथापि जयपुर सम्बन्धी एक घटना गत वर्ष मैंने छपवा दी थी। अब इस लेख में भी कुछ का उल्लेख करता हूँ। कुछ घटनाओं की चर्चा पुराने वा नये जीवन चरित्रों में पाठकों को मिलेगी। यह लेख उनका पूरक हो सकता है।

- जब ऋषि गुजरात पधारे -

महर्षि दयानन्द जब गुजरात पधारे, तो एक दिन अपने व्याख्यान में वैदिकधर्म के सिद्धान्तों की विशेषता पर बहुत ओजस्वी ढंग से बोल रहे थे। इसी व्याख्यान में उन्होंने ईसाईमत की भी युक्तिसंगत समीक्षा की। संयोग से इस व्याख्यान को सुनने एक ऐसा युवक आ गया जो उसी दिन गुजरात में ईसाई बनने के उद्देश्य से पहुंचा था, इस युवक की धार्मिक विषयों की खोज-पड़ताल में बड़ी रुचि थी। यह गुजरात से आठ मील की दूरी पर जलालपुर जट्टा नामक कस्बा का निवासी था और पादरियों के प्रभाव में आ चुका था।

ऋषि का व्याख्यान सुनकर यह युवक एक दृढ़ मिश्नरी स्प्रिट वाला आर्य बना। इसका नाम लाला गणेशदास था। इन्होंने 55 वर्ष से ऊपर आर्यसमाज की सेवा की। यह गणेशदास जी हमारे महान् संन्यासी आर्य नेता लाला

खुशहालचन्द (आनन्द स्वामी जी महाराज) के पूज्य पिता थे। यह घटना कोई 50 वर्ष पूर्व **'आर्य-ग़जट'** में छपी मिलती है।

- जब वे रावलपिण्डी पधारे -

रावलपिण्डी से पहले ऋषिवर गुजरात वालों को अपनी अमृतवर्षा से तृप्त कर चुके थे। बम्बई के राय साहब चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी तब रावलपिण्डी में ही थे। ऋषि के आगमन से पर्याप्त समय पूर्व जनता में उनके शुभागमन की चर्चा फैल गई। कोई कहता था कि यह ईसाईयों के वेतनभोगी गुप्तचर है, जो हिन्दुओं को ईसाई बनाने में लगा है; और कुछ ऐसे भी लोग थे, जो उनकी निर्भीक वाणी पर मोहित थे कि इस साधु की बातें सर्वथा सत्य हैं।

ऋषिवर नवम्बर मास में सन् 1868 ई0 को रावलपिण्डी पधारे। उनको पारसी सेठ जमशेद जी की कोठी में नदी के तट पर ठहराया गया। डा0 भवानी लाल भारतीय जी ने अपनी पुस्तक में इस सेठ का नाम **'जामास्पजी'** दिया है, जो सही नहीं है।

एक दिन रविवार सायंकाल चन्द्रिका प्रसाद जी उनका व्याख्यान सुनने के लिए नियत समय से 15 मिनट पूर्व पहुंच गये। इस कोठी में एक कमरा ऋषि का कार्यालय बना हुआ था। यहाँ बैठकर वह कुछ घण्टे वेदभाष्य आदि का कार्य करते थे। 4 बजे तक सारा हॉल खचाखच भर गया। ठीक समय पर ऋषि भगवे वस्त्र में हॉल में प्रविष्ट हुए। शान्त तेजस्वी मूर्ति हॉल के कोने में चौकी पर आसन लगाकर बैठ गई। अत्यन्त स्पष्ट वा मधुर स्वर से शान्तिमन्त्र पढ़कर सब श्रोताओं का ध्यान ऋषि ने आकृष्ट कर लिया। वातावरण सर्वथा शान्त स्तब्ध था। लोग मन्त्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। व्याख्यान के पश्चात् चन्द्रिका प्रसाद घर गये, परन्तु मन में हसरत (अमिट चाह) रही कि उनके व्याख्यान फिर सुनें। वे रावलपिण्डी समय के प्रथम अधिवेशन में सम्मिलित हुए।

- जब ऋषि आगरा पधारे -

1880 ई0 के नवम्बर मास में ऋषि आगरा पधारे और 10 मार्च 1881 ई0 तक वहाँ रहे। इस बार चन्द्रिका प्रसाद जी ने ऋषि के यहाँ पर 46-47 व्याख्यान सुने। वे एक भी व्याख्यान में न तो विलम्ब से पहुँचे और न ही अनुपस्थित रहे। अंग्रेजी-पठित लोग उत्साह से ऋषि को सुनने आते थे। उपस्थिति 500 से 1000 तक हुआ करती थी। आदि से अन्त तक श्रोता उन्हें जमकर सुनते थे। त्रिपाठी जी लिखते हैं - 'उन दिनों ऐसे प्रभावशाली व्याख्यान बहुत कम ही सुनने को मिलते थे।' वे लिखते हैं - 'कई बार हमें ऋषि के विचारों के विरुद्ध भी कुछ सुनना पड़ता था। कई लोग कहते थे कि वे अमुक-अमुक बात पर ग़लती पर हैं; परन्तु किसी को इस पर महामुनि के सामने आकर कुछ कहने का साहस न होता था। सुना गया कि एक होम्योपैथिक डाक्टर ऋषि से शास्त्रार्थ करेंगे। हमने समझा कि आज ऋषि को एक प्रबल विरोधी का सामना करना पड़ेगा। व्याख्यान की समाप्ति पर जब प्रश्नोत्तर का समय आया तो ऋषि ने किसी को भी जो पूछना हो पूछ लें, ऐसा निमन्त्रण दिया। डाक्टर महोदय ने एक-दो

साधारण से प्रश्न किये। ऋषि ने बड़े सरल सुबोध ढंग से उत्तर देकर उसे शान्त कर दिया। सब श्रोताओं को ऋषि के उत्तर समझ में आये और वे अत्यन्त प्रभावित हुए।

'ये व्याख्यान प्रतिदिन ऐसे विषयों पर होते थे, जो युवकों के लिए बहुत आवश्यक थे। ख़ेद है कि वे व्याख्यान तब लिखे न गये और आज संसार उनसे लाभ नहीं उठा सकता। ... परन्तु जिस सुन्दरता से, विनोद-मिश्रित ढंग से वे विचारों को व्यक्त करते थे तथा जिस शान से भाषण देते थे, तथा वह विस्तार (तफसील), जिससे वह अपनी युक्तियों की पुष्टि करते थे, सब नष्ट हो गये।'

'एक दिन मैं स्वामी जी के साथ गाड़ी में सवार होकर सिकन्दरा में एक विचित्र मनुष्य को देखने के लिए गया, जो भेड़ियों के मध्य बहुत समय तक रह चुका था। हमें बतलाया गया कि बाल्यकाल में ही भेड़िया इसको उठाकर ले गया था। यह वहीं पलता रहा। इसने भेड़ियों की आदतें वा बोली अपना ली थीं। जब हम उसे देखने गये, तब वह कुछ वर्षों तक मिशनहाऊस में रह चुका था। अतः वह मनुष्यों का व्यवहार व कुछ आदतें सीख चुका था। जब वह हमारे सामने आया तो प्रायः नग्न था। अर्थात् केवल एक कुर्ता पहना हुआ था, तथा उसके ढंग अर्द्ध जंगली थे। उसने हमें सलाम किया और पैसे मांगने के लिए हाथ फैलाया। इस पर स्वामी जी ने कहा - 'तुमने इतने वर्ष पशुओं में रहकर भी पैसे का मोह नहीं भुलाया।' स्वामी जी की आज्ञा पर मैंने उस मनुष्य को एक दुवन्नी या चवन्नी दे दी और वह प्रसन्न हो गया। अगले दिन प्रातः फिर मैं स्वामी जी की सेवा में रहा और कुंवर श्यामलाल सिंह के सुपुत्र का उपनयन संस्कार, जो स्वामी जी की आज्ञानुसार हुआ, देखता रहा।'

चन्द्रिका प्रसाद ऐसे सौभाग्यशाली मनुष्य थे, जिन्हें 1881 ई0 में भी ऋषि के सिंहनाद को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस नगर में ऋषि के व्याख्यान सेठ गजमल की हवेली के पीछे खुले स्थान पर होते थे। जिस स्थान पर यह कोठी थी, उसे सम्भवतः चौक **'कराका'** बोलते हैं। (चौक का जो नाम मैंने यहाँ दिया है, उसमें कुछ अशुद्धि हो तो कोई आगरा निवासी सुधार कर दे। मुझे जो ज्ञात था, मैंने लिख दिया।)

पं0 मोतीलाल नेहरू ने भी कानपुर में ऋषि के दर्शन किये थे। तब मोतीलाल विद्यार्थी थे। ऋषि, परेड-मैदान में व्याख्यान दे रहे थे। बड़ी भीड़ थी। भीड़ को देखकर मोतीलाल जी भी सभा में सम्मिलित हो गये। आगे ऋषि के पास पहुँच गये। ऋषि का भाषण बड़ा रोचक व प्रभावशाली था। ऋषि मूर्तिपूजा के खण्डन में युक्तियुक्त बोले। ऋषि पर विरोधियों ने ईंट-पत्थर की वर्षा की। कुछ लोग इधर-उधर भागे, परन्तु मोतीलाल जी वहीं खड़े रहे। तब ऋषि ने इन्हें कहा - 'कुछ पूछना हो तो पूछ लो।' यह बोले - 'आप तो मूर्तिपूजा के विरोधी हैं, मैं भी सब प्रकार की पूजा का विरोधी हूँ।'

इस पर ऋषि बहुत हंसे और कहा - 'अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव है। फिर मिलेंगे, तो बातचीत अवश्य होगी।'

मोतीलाल लिखते हैं कि – 'विशेष बात यह है कि उनका व्यक्तित्त्व इतना महान् था कि मेरे हृदय पर एक-एक बात पत्थर की रेखा के समान अंकित है।' (पं0 मोतीलाल नेहरू का स्वलिखित यह संस्मरण अन्यत्र देखिए।)

महाशय शीतल प्रसाद जी शाहजहाँपुर जिला के एक प्रतिष्ठित सज्जन थे। उन्होंने मथुरा आदि कई नगरों में ऋषि के वर्णन किये। जब ऋषि मथुरा में प्रचारार्थ आये तो उनके साथियों ने बार-बार आग्रह किया कि चलो ऋषि को सुनने चलें, परन्तु तब उनको रट यही थी कि – 'मैं नास्तिक के दर्शन नहीं करूँगा।'

तब की एक घटना उन्होंने लिखी है – 'मुंशी ज्वालाप्रसाद जी के उस कारिन्दा सेठ ने कहा – स्वामी गङ्गाचार्य ने उनसे शास्त्रार्थ करने को अपने प्रतिष्ठित चेले सेठ गोविन्ददास से स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि – "स्वामी दयानन्द विरजानन्द सरस्वती का शिष्य है। बड़ा विद्वान् है। इसका न्याय-निपुण होने का मुझको पूरा पता है। यदि दैवयोग से मैं पराजित हो गया, तो अपने मन्दिरों से मूर्तियां यमुना प्रवाह कर देने को क्या तुम उद्यत हो ?"

इन्हीं महाशय ने फिर फर्रूखाबाद में ऋषि दर्शन किये और कुछ ऐसी घटनाएं दी हैं, जिनका अन्य जीवन-चरित्रों में उल्लेख नहीं। उन्होंने एक विशेष बात यह लिखी है कि –

ऋषि ने वहाँ रण्डीबाजी (चारित्रिक रूप से पतित) वा 'अलगामवाजी' करने वालों की बहुत कलई खोली, इससे कई साहेबान चिढ़ गये। तभी वहाँ धर्मसभा का शुभ जन्म हुआ। ❐

अमर बोधमय ध्रुव धारा

ओङ्कार मिश्र 'प्रणव'

धन्य-धन्य गुजरात भूमि है, धन्य-धन्य है टंकारा।
धन्य-धन्य है बाल मूल की, अमर बोधमय ध्रुव धारा॥

नहीं ज्ञात किस जगह त्रस्त हो, सूर्य सत्य का सोता था।
धर्म विचारा दीन-हीन सा, इधर-उधर ही रोता था।
मत मिथ्या का मोह निरन्तर, अन्धकार ही बोता था।
जिससे ईर्ष्या-द्वेष-घृणा का, साम्राज्य था विस्तारा॥1॥

गयी गर्त में प्रभु की पूजा, पूजी जाती प्रतिमायें।
भोग रही थीं विषम वेदना, भारत की नव प्रतिभायें।
हीरा-मोती छोड़ जौहरी, पाषाणों में भरमायें।
जीवन की साफल्य-सुधा का, सूख गया मानस प्यारा॥2॥

वर्णाश्रम की वरद व्यवस्था, जानो रूठी-रूठी थी।
ऋषि-मुनियों की मधुर मान्यता, हो गई सारी झूठी थी।
सामाजिक सौन्दर्य वरण की, नष्ट संजीवन बूटी थी।
घोर निराशा कुहरे में था, धर्म फिरा मारा-मारा॥3॥

नन्दन-वन में आग लगी थी, विहग वृन्द थे अकुलाने।
लता, वृक्ष, कलिकायें झुलसीं, झुलसे पत्ते परवाने।
शोभा के शृङ्गार लगे जब, ही मन ही मन शरमाने।
किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ हुआ था, वासन्ती मौसम सारा॥4॥

दयानन्द की लहरों ने कुछ, जादू ऐसा कर डाला।
हरियाली छा गई बाग़ में, और छा गया उजियाला।
मत-वालों की फसलों पर भी, यहाँ पड़ गया था पाला।
होने लगे अचानक देखो, बुद्धिवाद के पौ-बारा॥5॥

लगी नाचने रम्य ऋचायें, अर्थों की भर-भर प्याली।
दर्शन, सूत्र समोद सजाते, प्रभु दर्शन, अर्चन थाली।
उपनिषदों की कलित कोकिला, कूक रही थी मतवाली।
मानो ऊषा अरुण प्रिया ने, सन्ध्या को हो ललकारा॥6॥

प्रहरी कञ्चन भवन राष्ट्र के, सहसा सब ही जाग उठे।
पारतन्त्र्य के प्रबल पाश में, लगा स्वयं ही आग उठे।
पन्थाई पाखण्डी सारे, हार मानकर भाग उठे।
मानव की उन्नति का गूंजा, प्रणव गगन में जयकारा॥7॥

हिन्दी से ही हमारा अस्तित्त्व

स्वामी योगानन्द सरस्वती
हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

हम जिस देश में पैदा हुए हैं, जहाँ पर गङ्गा जैसी पवित्र नदियाँ बहती हैं, जहाँ पर हिमालय जैसे पर्वत हैं, जहाँ पर वेदों जैसा ज्ञान है, जहाँ के आकाश के नीचे हमने क्रीडायें की हैं, जहाँ का जल पीकर और अन्न खाकर हम बड़े हुए हैं, जहाँ के वायु हमारे प्राण हैं और जहाँ के धूल के कणों से हमारा शरीर बना है, वह हमारी मातृभूमि है। हमें अपनी मातृभूमि पर गर्व है, गौरव है; क्योंकि उसने हमें हमारी रक्षा के लिये मौलिक आधारभूत मातृभूमि के मूल तत्त्व प्रदान किये हैं, जिनके बल पर आज हमारा संसार में अस्तित्त्व कायम है। वे हैं - हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता, हमारी भाषा, हमारे रीति-रिवाज़, हमारा धर्म, हमारी वेशभूषा आदि।

यदि हम अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता तथा अपनी भाषा आदि को मिटा दें, तो दुनियां में हमारा अस्तित्त्व ही नष्ट हो जायेगा। हमारी मातृभूमि का नामो-निशां ही मिट जायेगा। हम अपनी मां के लाल कहलाने के योग्य नहीं रह जायेंगे। हम ही अपनी मातृभूमि के हत्यारे बन जायेंगे। हमें सपूत कोई नहीं कह सकता, हम कपूत ही कहलायेंगे। अतः अपनी मातृभूमि की रक्षा करना परम कर्त्तव्य ही नहीं, अपितु अति अनिवार्य हमारा परमधर्म भी है। यही सच्ची देशभक्ति है।

भारत हमारी मातृभूमि है। इसकी रक्षा के लिये अपनी संस्कृति और अपनी भाषा - ये दो प्रमुख अमोघ शस्त्र हैं। इनके बल पर ही भारत जगत्-गुरु कहलाता था, और उस समस्त भूमण्डल पर भारत का चक्रवर्ती शासन था। आज हम स्वतन्त्र हैं। अंग्रेज भारत से चले गये, किन्तु कितने अफसोस व दुःख की बात है कि अंग्रेजियत आज भी हमारे देश से नहीं गयी। कारण स्पष्ट है कि - हमने अपनी आत्मा हिन्दी भाषा को दबोच कर रखा है। कैसा है यह स्वदेशाभिमान ? कैसी है यह स्वतन्त्रता ? कैसा है यह लोकतन्त्र; जहाँ पर जनता की भाषा में शासन नहीं चलता ? कैसी है यह विडम्बना, जहाँ विदेशी संस्कृति एवं विदेशी भाषा का प्रभुत्त्व है ? और कैसा है यह आत्म-गौरव, जहाँ आत्म-हनन ही सर्वोपरि है ?

राष्ट्रभाषा ही देश की आत्मा होती है, और राष्ट्रभाषा ही देशवासियों का प्राण है। कोई भी देश तबतक सुगठित शक्तिशाली स्वतन्त्र राष्ट्र नहीं बन सकता, जब तक उसे देश के पास अपनी ही सम्पूर्ण शासनतन्त्र को सङ्गठित एवं एकता के सूत्र में बाँधने वाली एक राष्ट्रभाषा न हो। राष्ट्रीय एकता तथा चेतना का स्वरूप बिना एक राष्ट्रभाषा के सम्भव नहीं है। बिना एक भाषा के किसी भी देश की राजनैतिक विभिन्नता

को एकता में नहीं बाँधा जा सकता। एक भाषा के बिना उसके अस्तित्त्व को कभी भी सरलता से नष्ट-भ्रष्ट किया जा सकता है। अतः एक राष्ट्रभाषा के द्वारा ही हम अपने सर्वस्व को सुरक्षित रख सकते हैं। इसके बिना हम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हैं।

राष्ट्र की शक्ति प्रजा की एकता में निहित है। प्रजा की एकता एक राष्ट्रभाषा में निहित है। एक राष्ट्रभाषा की शक्ति हिन्दी में ही सुरक्षित है। हिन्दी के माध्यम से ही सम्पूर्ण भारतीयों को परस्पर एकता के सूत्र में बाँधा जा सकता है; क्योंकि संस्कृति की मूल भावना हिन्दी में ही छिपी है। वेदों और दर्शनों से प्रभावित भारतीय संस्कृति ही मानवीय संस्कृति है। इस गुण के कारण ही भारतीय संस्कृति विश्व में विश्वगुरु के रूप में विश्वव्यापी बन चुकी है। देववाणी संस्कृत भाषा की प्रतिनिधि भाषा हिन्दी भारत में सर्वाधिक तथा विदेशों में बहुतायत से बोली एवं समझी जाती है। हिन्दी भाषा के कारण ही भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के चिह्न समस्त भूमण्डल पर यत्र-तत्र-सर्वत्र प्राप्त होते हैं।

आज विश्व में हिन्दी भाषियों की संख्या सर्वाधिक है, जबकि अंग्रेजीभाषियों की जनसंख्या अधिक नहीं है। संयुक्त राष्ट्र संघ की छठी भाषा के रूप कुछ करोड़ जनता के मध्य बोली जाने वाली अरबी भाषा को भी मान्यता मिल गई है। अंग्रेजी, चीनी, रूसी, स्पेनी, फ्रेंच - इतनी कम प्रतिशत में बोली जाने वाली सर्वथा अवैज्ञानिक विदेशी भाषायें राष्ट्रसंघ में मान्यता प्राप्त हैं। जबकि चीन के बाद विश्व में सबसे अधिक बोली जाने वाली हिन्दी अपनी शाख विश्व में आज तक न बना सकी, यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है। जबकि विश्व के अन्य देशों में यह भाषा बोली तथा समझी जाती है। भाषा की दृष्टि केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जो अंग्रेजी से चिपका रहकर, भाषायी दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ है। वह अभी तक मुक्त नहीं हुआ है। इसी कारण से वह संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी हिन्दी को निश्चित स्थान नहीं दिला सका है। यह हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य है।

भारत, सदैव भारत ही रहा है, और सदैव भारत ही रहेगा। यह संस्कृत भाषा और उससे निकली हिन्दी भाषा भारतीयत्त्व का साक्षात् प्रमाण है। हिन्दी भाषा में ही भारतीय संस्कृति के तत्त्व सुरक्षित हैं। हिन्दी भाषा को ही एक राष्ट्रभाषा के रूप में अनिवार्य रूप से सम्पूर्ण देश में ही सम्पर्क भाषा के रूप में देश की एकता का माध्यम बनाया जाना चाहिये और इस हिन्दी भाषा को देश का सम्मान प्राप्त होना चाहिये तथा विश्व संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी इसको स्थान दिलाया जाना चाहिये। हमें भी व्यवहार में हिन्दी भाषा का प्रयोग करना चाहिये, जिससे आगे आने वाली पीढ़ी हिन्दी भाषा से अपरिचित न रहे। हमारे विवाहादि अवसर पर छपवाये जाने वाले निमन्त्रण पत्र भी हिन्दी भाषा में होने चाहिये। जब हम गर्व के साथ हिन्दी भाषा का प्रयोग करने का निश्चय करेंगे, तभी हम विश्व के समक्ष भारत के अस्तित्त्व को बनाये रखने में सक्षम होंगे। ❑

जीवन में सङ्गीत का महत्त्व

सुप्रिया शर्मा
नारायण विहार, नई दिल्ली

सङ्गीत जीवन की वह विधा है जो जीवन को आनन्द से भर देती है। मनुष्य समाज ही नहीं, अपितु पशुजगत् पर भी इस सङ्गीत का इस प्रकार से प्रभाव पड़ता है कि वह आनन्द से सराबोर होने लगता है। श्रीकृष्ण की बांसुरी की मधुर ध्वनि केवल उनके सखा जनों के लिए ही तृप्ति का साधन नहीं थी, अपितु जङ्गल में चरने वाली गायें भी उस ध्वनि के प्रभाव से श्रीकृष्ण के समीप पहुँच जाती थीं। संगीत में ऐसा जादू है कि बच्चे हों या बड़े, सभी इसके मधुर-रस से प्रभावित होते हैं। तभी तो राजा भर्तृहरि जी ने कहा है - 'साहित्य, सङ्गीत, विविध प्रकार की कलाओं को जो मनुष्य नहीं जानता, वह बिना सींग और पूंछ का पशु है। पशुओं का यह सौभाग्य है कि वह घास नहीं खाता, अन्यथा ये पशु बिना घास के ही मर जाते।'

सङ्गीत का उद्भव **'सामवेद'** से माना गया है। सामवेद का उपवेद **'गान्धर्व वेद'** स्वयं ही सङ्गीत शास्त्र का रत्नाकर है। 'सङ्गीत रत्नाकर' नामक ग्रन्थ के प्रणेता पं शारङ्गदेव जी ने सङ्गीत की परिभाषा देते हुए लिखा है कि - 'गायन, वादन और नृत्य के मिलन को सङ्गीत कहते हैं।' वैसे यह बात स्वाभाविक है कि **गायन** ध्वनि का वह प्रकार है जो यति-गति-लय का विशेष आश्रय प्राप्तकर, उन स्वरों को आन्दोलित करता है, जो मनुष्य के मन-मस्तिष्क को ही नहीं, अपितु आत्मा तक को आनन्द से भर देता है। **वादन** उसका वह सहयोगकारी साधन है, जो उसमें किसी वाद्ययंत्र के प्रयोग द्वारा ताल व सम के सम्मिश्रण द्वारा उसे और अधिक प्रभावशाली बना देता है। जब गायन और वादन का प्रभाव मनुष्य के मन पर पड़ता है, तो उसका मन ही आनन्द से नहीं भरता, अपितु उसके हस्त-पाद में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाला स्पन्दन, उसका ताल के साथ उच्च स्थिति का स्पर्श करना तथा जब उसमें भाव-भङ्गिमाओं का मिलन हो जाता है, वह **नृत्य** बन जाता है।

जब मनुष्य सङ्गीत की किसी भी विधा से अपने को जोड़ता है, तो वह उस संसार से कुछ क्षण के लिए पृथक् हो जाता है, जिस संसार में तनाव है कठोरता व घुटन है। जिस मनुष्य का हृदय संवेदनाशून्य होगा, वह सङ्गीत का आनन्द नहीं ले सकता। अधिक तनाव वाला मनुष्य अनेकों बीमारियों से ग्रसित हो जाता है। इसलिये विद्वानों का कथन है कि जब-जब अवसर मिले, आप अपने को सङ्गीत के साथ संयुक्त कीजिये, इससे आप स्वस्थ रहेंगे; अन्यथा मनोविकार आपकी शारीरिक स्थिति को इतना विकृत कर देंगे कि एक समय आयेगा कि आप स्वयं ही अपने जीवन से दुःखी होने लगेंगे।

आज से 50-100 वर्ष पूर्व के समय को देखें और आज भी ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाले किसान या मजदूर को देखें, दिनभर के कार्य से थका होने के बाद जब भोजनादि कृत्य पूर्ण करके वह अपने मित्रों के साथ बैठकर ऊँची सम्मिलित आवाज़ में गीतों को गाता है और उस आवाज़ के साथ वाद्ययन्त्र की भाँति किसी साधन का सम्प्रयोग करता है, तब वह उस थकान भरी दुनियां से पृथक् उस लोक का आनन्द लेता है, जहाँ थकावट छिपकर बैठ जाती है। माधुर्य की बूँदें उसके हृदय में इस प्रकार का रस उत्पन्न करती हैं कि उसको देखने के बाद आप यह आभास नहीं कर सकते कि यह मनुष्य 10-12 घण्टे घोर परिश्रम वाली मजदूरी करके आया है। यह सब सङ्गीत का प्रभाव नहीं, तो और क्या है ?

समय-समय पर विद्वानों ने उस सङ्गीत विधा को जब किसी राग-रागनियों के स्वरों में आबद्ध किया, तो वह **'शास्त्रीय-सङ्गीत'** बन गया। यदि वह विधा ग्रामीण परम्परा को पूर्ववत् पोषण करने में समर्थ रही, तो वह सङ्गीत **'देशी-सङ्गीत'** बन गया। जब उस देशी-सङ्गीत में लोक परम्पराओं अथवा लोकभाषा का सम्पुट दे दिया गया, तो वह **'लोक-सङ्गीत'** बन गया। जब उस धारा में ईश्वरभक्ति का पुट दे दिया गया, तो वह **'भक्ति-सङ्गीत'** बन गया। जब उस सङ्गीत में कुछ दृश्य चित्रों का सम्प्रयोग कर लिया गया, तो वह **'फिल्म-सङ्गीत'** बन गया। जब उस धारा में मात्र वाद्ययन्त्र का प्रयोग किया गया, तो वह **'वाद्य-सङ्गीत'** बन गया, और जब उसमें शारीरिक मुद्राओं का भी सम्प्रयोग कर लिया गया, तो वह **'नृत्य-सङ्गीत'** बन गया। सङ्गीत की कोई भी विधा हो, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सङ्गीत मनुष्य-जीवन के लिए ऐसी परमौषधि है, जो तनाव, बढ़ा हुआ रक्तचाप या अन्य बीमारियों को ही दूर नहीं करती, वरन् उन कोशिकाओं को सजग करती है, जो मनुष्य-जीवन की स्वस्थता के लिए परमावश्यक हैं। सन् 1956 से सन् 1962 के मध्य शासन करने वाले महाराष्ट्र प्रान्त के राज्यपाल **'श्री प्रकाश जी'** ने एक बार अपने भाषण में कहा था कि -

'हमारे स्कूलों में सङ्गीत की शिक्षा अनिवार्य रूप से होनी चाहिये।'

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए सङ्गीत के साथ जुड़ना आवश्यक है। प्रथम प्रयास सबको यह करना चाहिये कि जो आपके अन्दर गायकी के रूप में छिपा पड़ा है, उसको आप पहले बाहर निकालें। इस कार्य में कोई क्या कहेगा, इस प्रकार का संकोच न करें। आप बिना परवाह दूसरे की किये अपने अन्दर के सङ्गीत को बाहर निकालिये। जब आपका भय दूर हो जाये, तो फिर किसी ऐसे व्यक्ति के साथ जुड़ जाईये, जो थोड़ा गायकी को समझता हो। उसका सानिध्य आपके गायन में निखार ला देगा। उसके बाद किसी शास्त्रीय-संगीतज्ञ गुरु का सानिध्य कर, उससे सीखने की प्रयत्न कीजिये। कुछ वर्षों के श्रम के बाद आप स्वयं अपने-आप में अनुभव करते हुए यह कह उठेंगे - **'गाना आये या ना आये, पर गाना चाहिये।'**

❐

बच्चों पर माता-पिता का प्रभाव

भोलानाथ
सेवानिवृत्त सब-जज, दिल्ली

कभी-कभी बच्चे बुजुर्गों की सूझ-बूझ वाली बातें करते हैं, ऐसे बच्चों को बाल-वृद्ध कहा जाता है। अंग्रेजी में इसी बात को ध्यान में रखकर कहा गया है – **" Child is the father of the Man"** तात्पर्य यह है कि छोटा बालक अपने आसपास की परिस्थितियों को बड़ी ही निपुणता से समझता है और स्थायी रूप से ग्रहण कर लेता है। ठीक, बच्चे में घड़े की तरह बचपन में पड़े प्रभाव स्थायी होते हैं। बन्दरों की तरह बच्चा भी हर ऐसी बात की नक़ल करता है, जो उसके परिवेश में घटती है। इसीलिये कहा जाता है कि- **'बालक बन्दर एक सुभाऊ।'** इससे यह स्पष्ट है कि बच्चा अपने आसपास के माहौल के प्रति बहुत संवेदनशील होता है। इसीलिये मां के गर्भ में आने के बाद से पहले 3 वर्ष तक बच्चे के मन-मस्तिष्क पर पड़ा हुआ प्रभाव, स्थायी बन जाता है और वह जीवन पर्यन्त रहता है। डार्विन के सिद्धान्त के अनुसार जो मनुष्य का विकास पशुओं के क्रमिक विकास पर हुआ है, जबकि लिर्सिको का सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य मात्र वातावरण की उपज है। अर्थात् किसी बच्चे के व्यक्तित्त्व के विकास में उसके परिवेश के प्रभाव का ही प्राधान्य होता है।

अब हमें देखना है कि वह कौन-कौन सी परिवेश सम्बन्धी बातें करता है, जो बच्चे के विकास को प्रभावित करती हैं। दिन में अधिकांश समय बच्चा अपने माता-पिता के पास रहता है या पड़ौसियों के बच्चों के साथ खेलता है। पाँच वर्ष की आयु तक बच्चा लगभग पूर्णतः घर पर ही रहता है, और उस पर सबसे अधिक प्रभाव उसके माता-पिता का ही पड़ता है। इसी को अपेक्षापूर्ण व्यक्तित्त्व की अवधि कहा जाता है। क्योंकि इस अवस्था में बच्चों के मस्तिष्क पर पड़ा प्रभाव बड़ा मौलिक होता है और वह स्थायी भाव बनकर उसमें टिक जाता है।

दूसरी अवस्था प्राइमरी स्कूल में पढ़ने के समय ही होती है। यह अवस्था भी बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि इसी समय बच्चा अपनी घरेलू दुनिया से निकलकर बाहरी दुनिया के सम्पर्क में आता है। इसे बच्चे के विकास भाव-व्यक्तित्त्व पर बाहरी दुनिया की झलक या प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। इसके बाद तीसरी अवस्था आती है, मिडिल स्कूल या हाईस्कूल तक के अध्ययन की। इस अवधि के बीच बच्चा बाहरी दुनिया की अधिकतर जानकारी प्राप्त कर लेता है। यह वह अवस्था है, जब बच्चे पर कुछ उत्तरदायित्त्व की भावना आती है। कुछ स्पर्धा का भाव आता है, और यहीं से उसकी मनोवृत्ति और निपुणता का आभास मिलने लगता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बच्चे पर माता-पिता के कलह का कितना प्रभाव पड़ता है। प्रायः देखा जाता है कि दैनिक जीवन में छोटी-छोटी घरेलू बातों को लेकर माता-पिता में मतभेद होता है। यह दम्पत्तियों में अविश्वास और आचरण में अनास्था के कारण होता है। यदि उनमें सहन, स्नेह और अपनत्त्व की भावना हो, तो उनके सोचने-समझने में अन्तर आ सकता है। इसलिये जब तक दम्पत्ति का जीवन शान्तिमय और समर्पण भाव से एकरस नहीं होगा, तब तक उनके प्रत्येक मतभेद और नोंक-झोंक का असर बच्चों के कोमल मन-मस्तिष्क को दूषित करता रहेगा।

यह एक ऐसी समस्या है, जिसकी ओर मनोवैज्ञानिकों, समाज-सुधारकों, अध्यापकों, प्रशासकों और न्यायाधीशों को ध्यान देना चाहिये। आज देखा जाता है कि किशोरावस्था में ही बच्चे अपनी कक्षाओं में या उसके बारह गम्भीर या अश्लील शरारतें करने लगते हैं। जो बच्चे पारिवारिक कलह में या प्रभाव और घुटन के बीच पलते हैं, आगे चलकर वे ही सारे समाज के लिए एक समस्या बन जाते हैं। ऐसा बच्चा अपने परिवेश में पड़ोस में बुरे लोगों की सङ्गति को शीघ्र पकड़ता है, और उसे पथभ्रष्ट होने में देर नहीं लगती। कभी-कभी वह छोटी-छोटी चोरियाँ भी करने लगता है और बुरे प्रभाव उस पर जमने लगते हैं। घर के घुटनभरे वातावरण से ऊबकर बच्चा अपने लिये सुखद वातावरण की खोज घर से बाहर करता है, और इस अभियान में वह बुरी सङ्गति में फंस जाता है।

इसके विपरीत जहाँ दम्पत्ति आपस में शान्ति और समर्पणभाव से जीते हैं, वहाँ यह स्वाभाविक है कि बच्चे जीवन की तमाम अच्छी बातों को देखते-सीखते हुए बढ़ते हैं। उनमें मान-मर्यादा और चरित्र का सहज विकास होता है। पंजाब केसरी लाला लाजपतराय ने जापानी बच्चों को आदर्श बच्चों के रूप में माना है, क्योंकि जापानी दम्पत्ति बहुत स्नेह से रहते हैं और अपने बच्चों को बिना किसी उचित कारण के नहीं डांटते या झिड़कते।

भारतीय समाज में पारिवारिक विघटन जोरों पर है। इससे भी अनेक समस्यायें सामने आ रही हैं। माता-पिता बच्चों के दिमाग़ को सबसे अधिक प्रभावित करते हैं और उनका ही प्रभाव सर्वाधिक पड़ता है। आज विश्व-स्पर्धा में सामान्य रूप से विकसित बच्चे ही देश को आगे बढ़ा सकते हैं। आज माता-पिता के ऊपर इस बात की बड़ी जिम्मेदारी है कि वे शान्ति और स्नेहमय वातावरण बनायें। यदि वे ऐसा नहीं करते और उनमें परस्पर क्लेश कलह और विवाद बना रहता है तो बच्चों का ऐसी स्थिति में इन बातों से प्रभावित होना अनिवार्य है। अभी हाल में ही उच्चतम न्यायालय ने (वीरेन्द्र शर्मा बनाम शीला शर्मा) के मुकद्दमे में पिता को निर्देश दिया कि वह अपने इकलौते बेटे को पब्लिक स्कूल के बोर्डिंग में रहने के लिए भारी खर्च की रकम देते रहें, जिससे लड़का घरेलू कलह के कारण उपेक्षित न रह सके और उसका विकास अवरुद्ध न हो। जब तक इस समस्या की ओर प्रबुद्ध माता-पिता, अध्यापक, मनोवैज्ञानिक, समाज-सुधारक और

मजिस्ट्रेट अपना सहयोग नहीं देते, बहुत सम्भव है कि बच्चे उपेक्षित होकर समाज में बुराईयाँ फैलाने में लग जायें और अच्छे समाज का विघटन होता रहे।

आज भी भारत का सामाजिक परिवेश स्वस्थ और प्रसन्न बच्चों के विकास के लिए सर्वोत्तम है। यहाँ पिता ही घर का मुखिया होता है और अपने बच्चों की शिक्षा में वह जो भी उपलब्ध हो, लगाना चाहता है। इसके साथ ही अध्यापक-संरक्षक-सङ्गठन भी इस समस्या को बहुत कुछ सुलझा सकते हैं। साथ ही निचली कक्षाओं के बच्चों को अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रमों में लगाना चाहिये, जिससे उनके मस्तिष्क का पूरा विकास हो सके। ऐसे दम्पत्तियों से जिनका पारिवारिक जीवन किन्हीं कारणों से कलहपूर्ण है, यह निवेदन है कि इसका असर बच्चों पर न पड़ने दें। वे चाहें तो कुछ अधिक खर्च बढ़ाकर बच्चों को स्कूलों में बोर्डिंग में डाल दें, जिससे बच्चों को सहज रूप से व्यक्तित्त्व का विकास करने का अवसर प्राप्त हो सके। आज का बच्चा कल का नागरिक है, उसे सुधारने के लिए यदि हमें अपनी खुशी भी न्यौछावर करनी पड़े, तो भी यह कार्य बच्चों के सुखद भविष्य के लिए हमें अवश्य करना चाहिये। ❐

* महर्षि-उवाच *

जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को गुरु कहते हैं; और जो अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे, उसको भी गुरु अर्थात् आचार्य कहते हैं। (आर्योद्देश्य रत्नमाला)

कुछ घरेलू नुस्खे

आचार्य श्याम

* आंवले के चूर्ण को यदि घी के साथ प्रातः-सायं चाटा जाय, तो तोतलेपन की बीमारी से मुक्ति मिलती है।

* आंवले के चूर्ण को मट्ठे के साथ यदि प्रातः-सायं सेवन किया जाय, तो पीलिया रोग समाप्त हो जाता है।

* तुलसी और कालीमिर्च के चूर्ण का प्रतिदिन सेवन करने से मलेरिया समाप्त हो जाता है।

* पान के पत्ते में अदरक और लोंग रखकर चूसने से बैठा हुआ गला ठीक हो जाता है, और कफ़ से निवृत्ति मिलती है।

* हरड़ के चूर्ण में गुड़ मिलाकर गोली बनाकर प्रतिदिन रात्रि में जल के साथ सेवन करने से पेटविकार समाप्त हो जाते हैं।

* हरड़ के चूर्ण को गौमूत्र मिलाकर खुजली के स्थान पर लगायें, खुजली अवश्य समाप्त होगी।

* इमली के पत्तों को उबालकर थोड़ा-थोड़ा पीने से जाड़ों में लगने वाली सर्दी से आराम मिलता है।

* नीम का तेल प्रतिदिन सिर में लगाने से बाल झड़ने बन्द हो जाते हैं तथा बाल काले भी हो जाते हैं।

* गठिया रोग में मैंथी के दाने का चूर्ण गुनगुने पानी के साथ प्रतिदिन सेवन करने से गठिया रोग में लाभ मिलता है।

* देशी घी में केसर मिलाकर सूंघने से आधा शीशी का दर्द दूर हो जाता है।

* हल्दी चूर्ण में काला नमक बराबर मिलाकर सेवन करने से पेट की गैस समाप्त हो जाती है।

* कान में ज़ख्म होने पर बकरी का दूध कान में डालने से कान का दर्द समाप्त हो जाता है।

* नारियल के पानी में सोंफ का अर्क मिलाकर पीने से पेट दर्द दूर हो जाता है।

* मूली के साथ आंवला का सेवन करने से मूत्राशय साफ होता है और पथरी में भी लाभ मिलता है।

* पेशाब की जलन दूर करने के लिए आंवले के रस में चीनी मिलाकर सेवन करें, लाभ होगा।

* पेशाब में अधिक जलन होने पर भोजन के बाद चन्दनासव का दो-दो ढक्कन जल के साथ सेवन करने से लाभ होता है।

* गाजर के रस में धनिये का अर्क मिलाकर पीने से आँखों की ज्योति बढ़ाने में आशातीत लाभ होता है। ❐

मित्र ही नहीं, शत्रु भी बनाने चाहिये

पं0 फूलसिंह
भिवानी (हरियाणा)

'शत्रु भी बनाने चाहिये' इस शीर्षक से आपको निश्चित ही आश्चर्य हुआ होगा। यहाँ मैं आपको बतलाना चाहता हूँ कि मित्र बनाने का महत्त्व तो है ही, पर कई बार लोक-संग्रह और विश्वहित की दृष्टि से शत्रु बनाना उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। मित्र प्रत्येक व्यक्ति बना सकता है, परन्तु उपर्युक्त दृष्टि से शत्रु कोई बिरला महापुरुष ही बना सकता है। संसार में आदि-सृष्टि से जितने भी महापुरुष हुए हैं, प्रायः सबने मित्र ही मित्र बनाये, केवल आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ही एकमात्र ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपने शत्रु भी बनाये।

चाहे कोई अच्छा हो या बुरा, जो व्यक्ति सबको प्रसन्न रखता है और सबसे मीठा बोलता है, उसकी सब प्रशंसा करते हैं। परन्तु जो सच्ची और खरी बात (फिर वह कितनी ही हितकारी और सुखद क्यों न हो) करता है, उसे सब बुरा ही कहते हैं, और गालियाँ ही देते हैं। इसीलिये जहाँ जाईये बड़े-बड़े विद्वान् और समझदार व्यक्ति कबीर, नानक, सुकरात, ईसा, विवेकानन्द, आदि की एक स्वर से प्रशंसा करते मिलेंगे, पर जब ऋषि दयानन्द का नाम आयेगा, तो सिवाय आर्यों के सबके सब नाक-भौं चढ़ाते मिलेंगे और इसके कारण में केवल यह कहेंगे कि स्वामी दयानन्द ने सबका खण्डन किया है।

हम उन लोगों से जो दयानन्द के नाम से मुँह बिचकाते हैं, बड़े नम्र शब्दों में पूछना चाहते हैं कि - क्या वे संसार में 'सब कुछ ठीक है, इस बात को मानते हैं। चोर भी ठीक है, साहूकार भी ठीक है। बेईमान भी ठीक है, ईमानदार भी ठीक है। व्यभिचारी भी ठीक है, ब्रह्मचारी भी ठीक है। मांस, अण्डा, शराब, सिगरेट सेवन करने वाला भी ठीक है, तथा इनसे दूर रहने वाला भी ठीक है, इत्यादि को ठीक मानेंगे ? यदि नहीं, तो फिर आप ऋषि दयानन्द के खण्डन के पीछे उनके दर्द भरे हृदय को क्यों नहीं देख पाते हो ?

आप महर्षि दयानन्द रचित **'सत्यार्थ' प्रकाश'** की पाँचों भूमिकाओं (एक आरम्भ वाली बड़ी भूमिका तथा चार छोटी वाली अनुभूमिकाओं) को सहृदयता और निष्पक्षता के साथ पढ़ेंगे, तो उनके भावों और दर्द को जानकर रोमाञ्चित हो उठेंगे और प्रायश्चित्त स्वरूप फूट-फूटकर रोने लगेंगे। ऐसे थे - वे महर्षि; जिन्होंने खण्डन किया।

हिन्दू जाति की असीम कुरीतियों को देखकर जो उसे खाये जा रही थी तथा विधवाओं, अनाथों, गायों और पतितों के चीत्कार और हाहाकार को सुनकर उनके अन्तर में करुणा का जो सहज उद्रेक होता था, उसे तनिक अनुभव तो कीजिये। आर्यजाति के कटते

अङ्गों को देखकर जिस ऋषिराज को कई बार रात-रात नींद नहीं आती थी, उसके अन्दर की पीड़ा और खण्डन कर्म के पीछे मण्डल या निर्माण की विश्व-कल्याणमयी विराट् कल्पना के दर्शन तो कीजिये। हर्ष का विषय है कि ऋषि दयानन्द के जीवनकाल में जो उन्हें ईसाईयों का ऐजेन्ट कहा करते थे, उनमें से भी अब अनेक व्यक्ति यह कहने लगे हैं कि - 'दयानन्द न होता, तो आज किसी के सिर पर चोटी और गले में जनेऊ न मिलता। आज भारत राष्ट्र स्वाधीन न होता आदि-आदि।'

लेख को अधिक लम्बा न करके इतना ही निवेदन है कि - दयानन्द ने ईंट और पत्थर खाकर तथा अन्त में विष तक पीकर हमें अमृत पिलाया है। अतः दयानन्द हमारा शत्रु नहीं, वरन् एक महान् मित्र था। विचारणीय यह है कि यदि कोई डाक्टर रोगी के फोड़े को दबाकर उसकी पीप निकालकर, उसे अच्छा करना चाहता है, और रोगी उस समय हाय-हाय करता है, तो क्या वह डाक्टर बुरा है, शत्रु है ? यदि वह डाक्टर अच्छा है, तो दयानन्द कितना अच्छा, कितना महान् था, जिसने लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के अज्ञानरूपी मोतियाबिन्द का आपरेशन करके उन्हें नई आँखें दीं, नई दृष्टि दी, ज्ञान नेत्र दिये।

यहाँ अन्त में इतना और विचारणीय है कि - क्या दयानन्द जैसे दूरदर्शी तथा बुद्धि के भण्डार ऋषि को इतना भी पता नहीं था कि जिनका वे खण्डन करते हैं, वे उनको शत्रु समझेंगे और किसी को भी शत्रु बनाना अच्छा नहीं है ? किन्तु उस देवता ने -

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रिय-वादिनः। अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ (महाभारत)

महाभारत के इस श्लोक को आधार मानकर जिन बातों का खण्डन करने में ही लोकहित समझा, उनका निर्भयता से खण्डन ही करके और इस प्रकार सत्य के शत्रुओं को अपना शत्रु बनाने के मूल्य पर भी विश्व मानवता का कल्याण किया। इसलिये मैं कहता हूँ कि मित्र बनाना सुगम है, परन्तु शत्रु बनाना बड़ा कठिन कार्य है। शत्रु कोई सूरमा ही बन सकता है, कोई साधारण पुरुष नहीं। इस प्रकार से अज्ञान और अन्याय को मिटाने हेतु शत्रु बनाने में जो लोक कल्याण और आत्मकल्याण है, वह मित्र बनाने में नहीं। अतः सद्ज्ञान और मानवता के शत्रुओं को चाहिये कि वह सभी को अपना शत्रु बनायें, जैसे कि महर्षि दयानन्द ने बनाया। धन्य थे वे ऋषिराज देव दयानन्द !!।

ऐसे महर्षि की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही कम है। आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध कवि श्री प्रकाश चन्द्र जी कविरत्न अजमेर वालों ने बहुत सुन्दर लिखा है -

महामति मन्द मदमस्त मायावी मलीन
मिथ्या मतवादियों के मद मान मारे हैं।
सुन्दर सत्यार्थ-प्रकाश से प्रकाश कवि
मन के सकल शूल, संशय निवारे हैं।
बन रखवारे दुःखियों के दुःख टारे सारे
कितने कुचालियों के जीवन सुधारे हैं।
पाप-ताप वारिधि से तूने देव दयानन्द
ऐते जन तारे जेते, नभ में न तारे हैं॥ ❑